18. पाठ्यगत (पाठ्यक्रम) एवं पाठ्य सहगामी क्रियाओं से आप क्या समझते हैं ? पाठ्य सहगामी क्रियाओं के महत्त्व को स्पष्ट कीजिए। 87
19. विद्यालय भवन के स्थान के चयन में किन-किन बातों को ध्यान में रखना चाहिए ? विद्यालय भवन का महत्त्व भी बताइए। 91
20. विद्यालय में स्वास्थ्य शिक्षा कार्यक्रम की एक रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए। 94

प्रश्न एवं उनके उत्तर

खण्ड— अ : अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. शैक्षिक प्रशासन को परिभाषित कीजिए।

उत्तर— ***डॉ. सैय्यदेन*** के अनुसार— "प्रशासन को अब समझ लेना चाहिए कि उसका कार्य फाइलों का निपटारा करने, शिक्षण विधियों का पालन करने तथा मानव सम्बन्धों को स्वस्थ बनाने तक ही सीमित नहीं है, उसको तो शैक्षिक विचारधाराओं को कार्य रूप में परिणित करना है। उसका कार्य शैक्षिक क्रिया और शैक्षणिक सिद्धान्तों के बीच अटूट सम्बन्ध का नियोजन है।"

मुकर्जी के अनुसार— "शैक्षिक प्रशासन भौतिक साधनों एवं मानवीय सम्बन्धों तथा सभी प्रकार से लोगों के एक साथ काम करने के प्रबन्ध से सम्बन्धित है। वास्तव में शैक्षिक प्रशासन अजीवित वस्तुओं की अपेक्षा मनुष्य से अधिक सम्बन्धित है।"

आर. मौर्ट पॉल के अनुसार— "शैक्षिक प्रशासन का अर्थ छात्रों के विकास को निर्धारित उद्देश्यों की दिशा में प्रवाहित करना, इस दृष्टि से शिक्षकों का साधन के रूप में प्रयोग करना तथा इस प्रक्रिया का संचालन ऐसे जनसमुदाय के सन्दर्भ में करना, जो शिक्षा के उद्देश्यों एवं उनकी प्राप्ति के साधन दोनों से विभिन्न प्रकार से सम्बन्धित हैं।"

प्रश्न 2. शैक्षिक प्रशासन का क्या अर्थ है ?

उत्तर— मुख्यत: शैक्षिक प्रशासन का अंग्रेजी में अर्थ होता है— 'एडमिनिस्ट्रेशन' (Administration)। अत: प्रशासन = एडमिनिस्ट्रेशन (Administration)→ मिनिस्टर (Minister)। 'मिनिस्टर' लैटिन भाषा का शब्द है, जिसका तात्पर्य है दूसरों की सेवा में रत रहने वाला व्यक्ति। इस प्रकार शाब्दिक रूप से 'प्रशासन' का अर्थ हुआ अपने अधीनस्थ लोगों की सेवा में लीन रहना। प्रशासन और प्रबन्ध को प्राय: शिक्षाविद् एक ही अर्थ में प्रयोग करते हैं, जो कि भ्रान्तिपूर्ण है। वास्तव में प्रबन्ध का काम केवल नीति निर्धारण करना होता है, जबकि प्रशासक का कार्य नीतियों व योजनाओं को कार्यरूप में परिणित करना होता है।

प्रश्न 3. शैक्षिक प्रशासन के उद्देश्य बताइए।

उत्तर— शैक्षिक प्रशासन के उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

1. शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति में सहयोग देना।

18. पाठ्यगत (पाठ्यक्रम) एवं पाठ्य सहगामी क्रियाओं से आप क्या समझते हैं? पाठ्य सहगामी क्रियाओं के महत्त्व को स्पष्ट कीजिए। 87
19. विद्यालय भवन के स्थान के चयन में किन-किन बातों को ध्यान में रखना चाहिए? विद्यालय भवन का महत्त्व भी बताइए। 91
20. विद्यालय में स्वास्थ्य शिक्षा कार्यक्रम की एक रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए। 94

प्रश्न एवं उनके उत्तर

खण्ड— अ : अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. शैक्षिक प्रशासन को परिभाषित कीजिए।

उत्तर— ***डॉ. सैय्यदेन*** के अनुसार— "प्रशासन को अब समझ लेना चाहिए कि उसका कार्य फाइलों का निपटारा करने, शिक्षण विधियों का पालन करने तथा मानव सम्बन्धों को स्वस्थ बनाने तक ही सीमित नहीं है, उसको तो शैक्षिक विचारधाराओं को कार्य रूप में परिणित करना है। उसका कार्य शैक्षिक क्रिया और शैक्षणिक सिद्धान्तों के बीच अटूट सम्बन्ध का नियोजन है।"

मुकर्जी के अनुसार— "शैक्षिक प्रशासन भौतिक साधनों एवं मानवीय सम्बन्धों तथा सभी प्रकार से लोगों के एक साथ काम करने के प्रबन्ध से सम्बन्धित है। वास्तव में शैक्षिक प्रशासन अजीवित वस्तुओं की अपेक्षा मनुष्य से अधिक सम्बन्धित है।"

आर. मौर्ट पॉल के अनुसार— "शैक्षिक प्रशासन का अर्थ छात्रों के विकास को निर्धारित उद्देश्यों की दिशा में प्रवाहित करना, इस दृष्टि से शिक्षकों का साधन के रूप में प्रयोग करना तथा इस प्रक्रिया का संचालन ऐसे जनसमुदाय के सन्दर्भ में करना, जो शिक्षा के उद्देश्यों एवं उनकी प्राप्ति के साधन दोनों से विभिन्न प्रकार से सम्बन्धित हैं।"

प्रश्न 2. शैक्षिक प्रशासन का क्या अर्थ है?

उत्तर— मुख्यत: शैक्षिक प्रशासन का अंग्रेजी में अर्थ होता है— 'एडमिनिस्ट्रेशन' (Administration)। अत: प्रशासन = एडमिनिस्ट्रेशन (Administration)→ मिनिस्टर (Minister)। 'मिनिस्टर' लैटिन भाषा का शब्द है, जिसका तात्पर्य है दूसरों की सेवा में रत रहने वाला व्यक्ति। इस प्रकार शाब्दिक रूप से 'प्रशासन' का अर्थ हुआ अपने अधीनस्थ लोगों की सेवा में लीन रहना। प्रशासन और प्रबन्ध को प्राय: शिक्षाविद् एक ही अर्थ में प्रयोग करते हैं, जो कि भ्रान्तिपूर्ण है। वास्तव में प्रबन्ध का काम केवल नीति निर्धारण करना होता है, जबकि प्रशासक का कार्य नीतियों व योजनाओं को कार्यरूप में परिणित करना होता है।

प्रश्न 3. शैक्षिक प्रशासन के उद्देश्य बताइए।

उत्तर— शैक्षिक प्रशासन के उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

1. शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति में सहयोग देना।

2. शिक्षा से अपव्यय की समस्या दूर करना।
3. विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का विकास करना।
4. अच्छी परम्पराओं का संरक्षण करना।
5. स्कूल व समुदाय को एक-दूसरे के निकट लाना।

प्रश्न 4. शैक्षिक प्रशासन की प्रकृति बताइए।

उत्तर— शैक्षिक प्रशासन की प्रकृति निम्नलिखित है—

1. शैक्षिक प्रशासन की प्रकृति केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण दोनों ही स्वरूपों में होती है।
2. शैक्षिक प्रशासन पर सामाजिक परिवर्तन तथा सामाजिक गतिशीलता का भी गहरा प्रभाव पड़ता है।
3. शैक्षिक प्रशासन की प्रक्रिया बालक के सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्धित होती है।
4. शैक्षिक प्रशासन बालक के सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्धित होता है।

प्रश्न 5. शैक्षिक प्रशासन के आधारभूत सिद्धान्त बताइए।

उत्तर— शैक्षिक प्रशासन के आधारभूत सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

1. बालक प्रधान शैक्षिक प्रशासन का सिद्धान्त।
2. सामाजिक तथा राष्ट्रीय हित का सिद्धान्त।
3. कार्यक्रमों तथा नीतियों के निर्धारण का सिद्धान्त।
4. प्रयासों के समन्वय का सिद्धान्त।

प्रश्न 6. पर्यावरण शिक्षा क्या है ?

उत्तर— पर्यावरण शिक्षा वह शिक्षा है, जो पर्यावरण के माध्यम से, पर्यावरण के विषय में तथा पर्यावरण के लिए होती है। शिक्षा व्यक्ति को पर्यावरण से अनुकूल करना ही नहीं सिखाती वरन् उसे पर्यावरण को अपने अनुकूल बदलने के लिए भी प्रशिक्षित करती है। यह व्यक्ति को पर्यावरण पर नियंत्रण रखने की क्षमता प्रदान करती है। पर्यावरणीय शिक्षा, व्यक्ति को पर्यावरण समस्याओं सम्बन्धी ज्ञान तथा मूल्यों के विकास द्वारा जीवन के लिए तैयार करती है।

यूनेको (1970) जम्मू में सेमिनार— "पर्यावरण शिक्षा एक ढंग है, जिससे पर्यावरण संरक्षण के लक्ष्यों को प्राप्त किया जाये। विज्ञान तथा अध्ययन क्षेत्र की पृथक् शाखा नहीं है, अपितु जीवनपर्यन्त चलने वाली शिक्षा की एकीकृत प्रक्रिया है।"

प्रश्न 7. बजट का अर्थ ।

उत्तर— बजट शब्द की उत्पत्ति फ्रेंच भाषा के 'बूजेट' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ चमड़े की थैली से लगाया जाता है। बजट का अर्थ पहले थैली से लगाया जाता था, किन्तु धीरे-धीरे इस शब्द का प्रयोग थैली के लिए न होकर उसमें रखे आय-व्ययक पत्रों के लिए होने लगा। वर्तमान में वार्षिक आय-व्यय के विवरण-पत्रों को ही बजट कहा जाता है। बजट में वित्तीय व्यवस्था का प्रतिवेदन, वित्तीय स्थिति का अनुमान तथा वित्तीय कार्यक्रमों का प्रस्ताव सम्मिलित रहता है।

प्रश्न 8. योग का महत्त्व।

उत्तर— योग शिक्षा व योगासनों को हमारे व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से निम्नलिखित महत्त्व है—

(i) अस्थि एवं पेशीय तन्त्र— योग क्रियाएँ अस्थियों एवं पेशियों को गतिशील एवं पुष्ट बनाती हैं। इन क्रियाओं का लाभ मानसिक कार्य करने वाले व्यक्तियों को विशेष रूप से होता है।

(ii) श्वसन-तन्त्र— योग-क्रियाओं के द्वारा फेफड़ों में प्रत्येक भाग से विषैली गैसों का निष्कासन हो जाता है और उसका स्थान शुद्ध एवं ताजी 'ऑक्सीजन' ग्रहण कर लेती है।

(iii) पाचन संस्थान— योग क्रियाओं द्वारा शरीर के विभिन्न अंगों में पर्याप्त संकुचन एवं प्रसारण होता है। पूरे शरीर की मालिश हो जाती है। इससे पाचनतन्त्र स्वस्थ रहता है। भूख अच्छी लगती है और भोजन का शरीर में भली प्रकार से अवशोषण होता है।

(iv) रक्त संचरण तन्त्र— यौगिक क्रियाएँ तनाव की स्थिति में भी हृदय, जो रक्त संचरणतंत्र का केन्द्र होता है की गति को नियंत्रित रखने तथा रक्त-प्रवाह की गति सामान्य एवं स्वाभाविक बनाये रखने में अत्यन्त लाभकारी सिद्ध होती है।

(v) आध्यात्मिक महत्त्व— योग द्वारा मन एवं चित्त की वृत्तियों को संयत करने तथा ध्यान को एकाग्र करने की क्षमता का विकास होता है।

प्रश्न 9. समय-सारणी का महत्त्व बताइए।

उत्तर— विद्यालय की अनेक दैनिक क्रियाओं को व्यवस्थित रूप से संचालित करने की दृष्टि से समय-सारणी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। वास्तव में समय-सारणी एक ऐसे दर्पण का कार्य करती है, जिसमें विद्यालय के समस्त शैक्षणिक कार्यक्रम प्रतिबिम्बित होते हैं। विद्यालय के सुसंचालन हेतु यह एक महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में सामने आती है। इसके द्वारा विद्यालय के समस्त कार्यों को सुगमतापूर्वक संचालित किया जाता है और मानवीय संसाधनों का अनुकूलतम ढंग से प्रयोग करके विद्यालय के उद्देश्यों को प्राप्त किया जाता है। वस्तुत: समय-सारणी शिक्षकों, विद्यार्थियों एवं प्रधानाध्यापक सभी के लिए महत्त्वपूर्ण होती है और सभी को अपने-अपने कर्त्तव्यों एवं दायित्वों के प्रति सजग करती है। समय-सारणी के अनुसार कार्य करने से विद्यालय में उत्तरदायित्व, सहयोग एवं समन्वय की भावना का विकास होता है।

प्रश्न 10. समय सारणी के प्रकार बताइए।

उत्तर— समय सारणी निम्न प्रकार की होती है—

1. सामान्य समय सारणी
2. कक्षा समय सारणी
3. शिक्षक समय सारणी
4. खेल समय सारणी
5. गृह कार्य समय सारणी
6. परीक्षा समय सारणी।

प्रश्न 11. समय-सारणी बनाने के सिद्धान्त लिखिए।

उत्तर— समय तालिका बनाने के मूल सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

1. थकावट का सिद्धान्त— थकावट शारीरिक शिथिलता एवं कार्यकुशलता के ह्रास की सूचक होती है। इसमें विषय की दुरूहता एवं समय दोनों समान रूप से उत्तरदायी होते हैं।

दिन में मध्यान्तर के पहले और दिन के अन्तिम घण्टे में सरल-से-सरल विषय को पढ़ाने में अरुचि-सी लगती है। इसी प्रकार सप्ताह का सोमवार और शनिवार का दिन अध्ययन और अध्यापन की दृष्टि से सबसे खराब दिन होता है, क्योंकि यह छुट्टी के पहले और बाद में पड़ता है। समय-सारणी बनाते समय इन सब बातों का ध्यान रखना चाहिए।

2. विभिन्नता का सिद्धान्त– यह विद्यार्थियों और अध्यापकों दोनों के लिए समान रूप से लागू होता है। बच्चों को लगातार बहुत समय तक एक ही विषय या एक से अधिक विषय पढ़ाते रहना अथवा ऐसे विषय पढ़ाना जो जल्दी थकान पैदा कर देते हैं बहुत हानिकारक है। अपेक्षित है कि एक ही विषय लगातार अधिक समय तक न पढ़ाये जायँ, यदि ऐसा आवश्यक न हो।

प्रश्न 12. योग का क्या अर्थ है ?

उत्तर– योग शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के युज धातु से हुई है जिसका अर्थ मिलाना या जोड़ना है। अर्थात् योग एक ऐसी कला है जो जीवन को भलीभाँति समझकर उसे परम पिता परमात्मा से मिलने का मार्ग बतलाती है।

महर्षि पतंजलि के अनुसार– "मन की वृत्तियों को रोकना योग है अर्थात् चित् की चंचलता का दमन ही योग है।"

प्रश्न 13. एक कुशल प्रधानाध्यापक के अन्दर कौन-कौन से गुण होने चाहिए ?

उत्तर– एक कुशल प्रधानाध्यापक के अन्दर निम्नलिखित गुण होने चाहिए–

1. उत्तम स्वास्थ्य का होना,
2. अच्छी आदतों का होना,
3. कार्यशील होना,
4. नेतृत्व की क्षमता,
5. सहनशील होना,
6. आदर्शवान होना,
7. चरित्रवान होना।

प्रश्न 14. स्वास्थ्य से आप क्या समझते हैं ?

उत्तर– स्वास्थ्य का अंग्रेजी शब्द Health होता है। जिसका अभिप्राय सुरक्षा तथा निरोगता से लिया जाता है। सामान्यत: स्वास्थ्य का अर्थ उस स्वस्थ दशा से लगाया जाता है जिसके द्वारा शरीर तथा मस्तिष्क के समस्त कार्य सुचारु रूप से सक्रियतापूर्वक सम्पन्न किये जाते हैं।

वेबस्टर शब्दकोश के अनुसार– "स्वास्थ्य शरीर, मन या आत्मा में स्वस्थता तथा निरोगता की अवस्था है। मुख्यत: यह शारीरिक रोग या दु:ख का अभाव है।"

प्रश्न 15. स्वास्थ्य शिक्षा से क्या आशय है ?

उत्तर– 'स्वास्थ्य' शब्द अंग्रेजी के हाईजीन का रूपान्तर माना जाता है। अंग्रेजी शब्द 'हाईजीन' यूनानी शब्द 'हाइजिया' से निकला है। यूनानी स्वास्थ्य की देवी को 'हाईजिया' के नाम से पुकारते थे। वे इस देवी को स्वास्थ्य का रक्षक मानते थे। इस प्रकार 'हाईजीन' शब्द का अर्थ–'स्वास्थ्य रक्षा' से सम्बन्ध रखता हैं, परन्तु आधुनिक काल में इस शब्द का अर्थ व्यापक रूप से लिया जाता है। अर्थ की व्यापकता के अनुसार 'हाईजीन' के अन्तर्गत स्वास्थ्य-रक्षा तथा शारीरिक विकास से सम्बन्धित अनेक बातें आती हैं। इसके अन्तर्गत व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य से सम्बन्धित समस्याओं का भी अध्ययन किया जाता है।

प्रश्न 16. विद्यालय प्रबन्धन क्या है ?

उत्तर– विद्यालय प्रबन्धन से तात्पर्य किसी संगठन का संचालन करने अथवा नियंत्रण सम्बन्धी व्यवस्था करने से होता है। प्राय: प्रबन्धन, प्रशासन तथा संगठन शब्दों का प्रयोग भ्रमवश समान अर्थ में किया जाता है। यद्यपि कुछ सीमा तक ये तीनों शब्द एक-दूसरे के पर्याय हैं तथा इनमें अत्यधिक उभयनिष्ठता पायी जाती है। वास्तव में ये तीनों शब्द तीन भिन्न-भिन्न अर्थों को इंगित करते हैं। प्रशासन शब्द से तात्पर्य मानवीय तथा भौतिक संसाधनों का प्रभावकारी ढंग से अनुकूलतम उपयोग करके संगठन के उद्देश्यों की अधिकतम प्राप्ति के लिए आवश्यक नीतिगत निर्णय लेने की प्रक्रिया से होता है। प्रबन्धन से तात्पर्य उन कार्यकारी क्रियाकलापों से होता है, जिसके द्वारा कोई प्रशासक अपनी नीति निर्धारित करता है।

प्रश्न 17. प्रजातांत्रिक प्रबन्धन क्या है ?

उत्तर– व्यक्ति का सम्मान प्रजातंत्र की मूल अवधारणा व आवश्यकता होती है। विद्यालय के प्रत्येक बालक को उसके रुचि, क्षमता व आवश्यकता के अनुरूप शैक्षिक कार्यक्रम उपलब्ध कराये। प्रजातांत्रिक राष्ट्र में शिक्षा प्रशासन बालकों के बौद्धिक, शारीरिक, सामाजिक, भावात्मक व संवेगात्मक आदि सभी प्रकार के विकास पर ध्यान देने में विश्वास करता है। यही कारण है कि हमारे राष्ट्र में शिक्षा प्रशासन बालकों के वैयक्तिक व सामाजिक विकास एवं इसके परस्पर समन्वय पर ध्यान देता है एवं इसी के माध्यम से राष्ट्र के विकास के स्वप्न को साकार करता है।

प्रश्न 18. राज्य स्तर पर शिक्षा सम्बन्धी कार्य बताइए।

उत्तर– राज्य स्तर पर शिक्षा सम्बन्धी कार्य निम्न हैं–

1. शिक्षा का नियोजन
2. संस्थाओं की स्थापना
3. वित्त का प्रबन्धन
4. शिक्षा पर नियन्त्रण
5. नियमावली का सृजन
6. नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था।

प्रश्न 19. मानसिक स्वास्थ्य का क्या अर्थ है ?

उत्तर– मुख्यत: मानसिक स्वास्थ्य व्यक्ति की वह दशा है जिसमें उसका व्यवहार एवं आन्तरिक मानसिक स्थिति सामान्य होती है।

भाटिया के अनुसार– "मानसिक स्वास्थ्य यह बताता है कि कोई व्यक्ति जीवन की माँगों और अवसरों के प्रति कितनी अच्छी तरह समायोजित होता है।"

प्रश्न 20. प्रबन्धन के मूल तत्त्व कौन-कौन से हैं ?

उत्तर– प्रबन्धन के मूल तत्त्व निम्नलिखित हैं–

1. नियोजन, 2. निर्देशन, 3. समन्वय,
4. नियंत्रण, 5. सम्प्रेषण, 6. मूल्यांकन।

प्रश्न 21. शिक्षा में शिक्षक-अभिभावक सहयोग का क्या अर्थ है ?

उत्तर– अभिभावकों और शिक्षकों का एक ऐसा संघ या संगठन है जिसकी सदस्यता विद्यालय और बालक के हित में अभिभावक तथा शिक्षक दोनों ग्रहण करते हैं। विद्यालय इस प्रकार के संघों का निर्माण इसलिए करता है कि अभिभावकों का सक्रिय सहयोग

प्राप्त किया जा सके। संघ के सभी सदस्य सामूहिक रूप से प्रयत्नपूर्वक ऐसे मार्गों की खोज करते हैं जिनके द्वारा बालकों को अधिकतम लाभ मिल सके। ये विद्यालय की योजनाओं, परिस्थितियों और अभावों को समझते हुए उसमें इस प्रकार से परिवर्तन एवं परिवर्द्धन करते हैं कि विद्यालय का स्तर कुछ निश्चित क्षेत्रों में उन्नत हो सके।

प्रश्न 22. विद्यालयों में स्वास्थ्य शिक्षा का क्या स्वरूप होना चाहिए?

उत्तर— (i) स्वास्थ्य शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित होना चाहिए।

(ii) योग्य व्यक्तियों के द्वारा प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए।

(iii) स्वास्थ्य प्रशिक्षण की विभिन्न पद्धतियों का उपयोग होना चाहिए।

(iv) स्वास्थ्य प्रशिक्षण के परिणामों से छात्रों को अवगत कराना चाहिए।

प्रश्न 23. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर— विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को संसद द्वारा कानूनी दर्जा 1960 ई. में प्राप्त हुआ। इस आयोग के नौ सदस्य होते हैं। इस आयोग का कार्य विश्वविद्यालय शिक्षा के स्तर तथा शिक्षण प्रणाली के उत्थान विषय में परामर्श देना, नवीन विश्वविद्यालयों की स्थापना करना और पुराने विश्वविद्यालयों के कार्यों को बढ़ाने के सन्दर्भ में मत व्यक्त करना, विश्वविद्यालय से उनकी आर्थिक स्थिति, परीक्षाएँ, शिक्षण-पद्धति, पाठ्यक्रमों तथा अनुसन्धान कार्यों के विषय में सूचना प्राप्त करना, विश्वविद्यालयों की आर्थिक स्थिति की जाँच करना और सरकार को विश्वविद्यालय को दी जाने वाली सहायता के अनुदान के सम्बन्ध में सूचना देना होता है।

प्रश्न 24. शैक्षिक प्रबन्धन को प्रभावित करने वाले कारक कौन-कौन से हैं?

उत्तर— शैक्षिक प्रबन्धन को प्रभावित करने वाले कारक निम्नलिखित हैं—

1. ऐतिहासिक कारक,
2. दार्शनिक कारक,
3. आर्थिक कारक,
4. मनोवैज्ञानिक कारक,
5. सामाजिक कारक,
6. सांस्कृतिक कारक,
7. धार्मिक कारक,
8. भौगोलिक कारक।

प्रश्न 25. विद्यालय भवन किस प्रकार का होना चाहिए?

उत्तर— विद्यालय भवन में निम्नलिखित विशेषताएँ होनी चाहिए—

1. प्रशासनिक भवन,
2. उत्तम कक्षा-कक्ष,
3. पुस्तकालय,
4. सभागार,
5. शारीरिक शिक्षा विभाग,
6. कामन कक्ष,
7. पुस्तकालय,
8. भण्डार कक्ष आदि।

प्रश्न 26. व्यावसायिक निर्देशन के उद्देश्य बताइए।

उत्तर— व्यावसायिक निर्देशन के उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

1. विद्यार्थियों को भिन्न-भिन्न जीविकाओं के विषय में ऐसी सूचनाएँ एकत्र करने में सहायता करना, जिन्हें वे चुन सकें।
2. छात्रों को यह बताना कि किसी व्यवसाय के लिए किन-किन गुणों, योग्यताओं और दक्षताओं की आवश्यकता होती है।

3. विद्यार्थियों को विभिन्न व्यवसायों का निरीक्षण करने की सुविधा प्रदान करना।
4. निर्धन छात्रों को अधिक सहायता देकर उनकी व्यवसाय सम्बन्धी योजना को सफल बनाना।
5. विद्यालय के अन्दर एवं बाहर ऐसे अवसर प्रदान करना, जिससे छात्र कार्य की परिस्थितियों से परिचय प्राप्त कर सकें तथा वे अपनी रुचि का विस्तार कर सकें।
6. छात्रों को विभिन्न व्यवसायों से परिचित कराना, उनका व्यक्तिगत तथा सामाजिक महत्त्व बताना एवं कार्य के प्रति आदर्श भावना जाग्रत करना।

प्रश्न 27. पुस्तकालय की व्यवस्था हेतु प्रधानाध्यापक को क्या उपाय करने चाहिए?

उत्तर— प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह योग्य अध्यापकों की एक कमेटी बना दे, जो प्रतिवर्ष अच्छी पुस्तकों की एक सूची बनाकर पुस्तकालय अध्यक्ष के पास भेज दिया करे तथा उन पुस्तकों को सुविधानुसार मँगाने का प्रयत्न करता रहे। प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह प्रतिवर्ष पुस्तकालय पर व्यय होने वाली धनराशि को निश्चित कर दे। पुस्तकालय कमेटी प्रतिवर्ष पुस्तकालय पर व्यय होने वाली धनराशि से ज्ञानवर्द्धक पुस्तकें मँगाती रहें।

प्रश्न 28. संचित अभिलेख से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर— संचित अभिलेख किसी एक विद्यार्थी का सम्पूर्ण स्थायी और गोपनीय अभिलेख या शैक्षिक इतिहास है, जो उसके सर्वांगीण विकास, अभिवृद्धि तथा विकास का संचित और व्यापक ब्यौरा प्रस्तुत करता है। इसमें उसके विद्यार्थी जीवन के शुरू से अन्त तक सभी पक्षों को दर्शाया जाता है।

प्रश्न 29. N. G. O. का शिक्षा में क्या योगदान है?

उत्तर— वर्तमान समय में हमारे देश में शिक्षा के क्षेत्र में N. G. O. एक अग्रणी भूमिका का निर्वहन कर रहा है। आज N. G. O. के माध्यम से हमारे देश में अनेक क्षेत्रों में शिक्षा दी जा रही है। वहुत से प्रान्तों में जहाँ लोगों का पहुँचना मुश्किल होता है, वहाँ विश्व की शैक्षिक इकाइयों के माध्यम से भोजन, वस्त्र, पाठ्य-सामग्री आदि मुहैया कराके शिक्षा-दीक्षा दी जाती है।

प्रश्न 30. संक्रामक रोग का अर्थ लिखिए।

उत्तर— इसका अर्थ उस रोग से लगाया जाता है जो छूत का परिणाम होता है। छूत जब एक दूसरे को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से लग जाती है, तो उसे संसर्गत रोग कहते हैं, परन्तु संक्रामक रोग वह है, जिसमें छूत अप्रत्यक्ष माध्यम, जैसे— वायु, जल आदि से लग जाती है।

प्रश्न 31. संतुलित आहार को परिभाषित कीजिए।

उत्तर— सन्तुलित आहार से तात्पर्य ऐसे आहार से है जो शरीर को उसकी आवश्यकतानुसार सभी पोषक तत्त्व प्रदान करे।

भारत सरकार की कृषि अनुसन्धान शाखा राष्ट्रीय परिषद् के अनुसार, "सन्तुलित आहार वह आहार है जो मात्रा और गुण से सन्तुलित हो तथा शरीर की वृद्धि, विकास कार्य और स्वास्थ्य संरक्षण के लिए आवश्यक पोषक तत्त्वों को उचित मात्रा में सम्मिलित करता हो।"

अत: वह आहार जो शरीर की ऊर्जा की आवश्यकता, शरीर की निर्माणक तत्त्वों की आवश्यकता तथा नियामक एवं सुरक्षात्मक तत्त्वों की आवश्यकता को पूर्ण करता है, सन्तुलित आहार कहलाता है।

प्रश्न 32. शिक्षा में पर्यवेक्षण का क्या अर्थ है? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर— शिक्षा में पर्यवेक्षण अंग्रेजी शब्द 'सुपरविजन' (Supervision) का हिन्दी अनुवाद है 'दिव्य-दृष्टि' (Supervision)। शाब्दिक दृष्टि से इसका अर्थ यह है कि पर्यवेक्षण वह अनोखी प्रक्रिया है जिसमें पर्यवेक्षक अपनी दिव्य-दृष्टि से समस्याओं को ढूँढ़ता है और उनका समाधान प्रस्तुत करता है। पर्यवेक्षण के सम्बन्ध में केवल शाब्दिक दृष्टिकोण ही पर्याप्त नहीं माना जा सकता है। इसके स्वरूप का स्पष्ट अवबोध प्राप्त करने के लिए विभिन्न विद्वानों के विचारों से परिचित होना भी आवश्यक है।

किम्बल बाइल्स के अनुसार— "पर्यवेक्षण सेवा की एक ऐसी गतिविधि है जिसका उद्देश्य शिक्षकों का कार्य उत्तम ढंग से करने में मदद करना है।"

प्रश्न 33. पर्यवेक्षण के प्रकार बताइए।

उत्तर— पर्यवेक्षण के प्रकार निम्न हैं—

1. निरीक्षणात्मक पर्यवेक्षण
2. निरोधात्मक पर्यवेक्षण
3. लोकतंत्रीय पर्यवेक्षण
4. वैज्ञानिक पर्यवेक्षण
5. रचनात्मक पर्यवेक्षण।

प्रश्न 34. अच्छे पर्यवेक्षक के गुण बताइए।

उत्तर— अच्छे पर्यवेक्षक के गुण निम्नलिखित हैं—

1. वैयक्तिक गुण
2. प्रशासकीय गुण
3. संव्यावसायिक ज्ञान।

खण्ड— ब : लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. विद्यालय प्रबन्ध के क्षेत्र में पोस्डकार्ब को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर— ***लूथर गुलिक*** ने विद्यालय प्रबन्ध प्रक्रिया का विश्लेषण व्यापक अर्थ में POSDCORB पोस्डकोर्ब फार्मूले द्वारा प्रस्तुत किया। इसकी संरचना में निम्नलिखित सात तत्त्वों का समावेश है, जो इसके अर्थ का इन सात प्रबन्धकीय कार्यों के रूप में विवेचन करते हैं। लूथर गुलिक ने इन्हीं सात तत्त्वों के आधार पर प्रधानाध्यापक के प्रबन्धक के रूप में सात कर्त्तव्यों का वर्णन किया है। इनका विवरण निम्नवत् है—

(1) P- Planning	–	योजना निर्माण
(2) O- Organisation	–	संगठन
(3) S- Supervision	–	पर्यवेक्षण
(4) D- Direction	–	निर्देशन
(5) Co- Co-ordination	–	समन्वय

(6) R- Reporting - प्रतिवेदन

(7) B- Budgeting - बजट बनाना

(1) योजना निर्माण— विद्यालय प्रबन्ध का पहला तत्त्व योजना निर्माण अर्थात योजना बनाना है। सत्र प्रारम्भ होने से पूर्व ही उसे विद्यालय की वार्षिक योजना, मासिक योजना, दैनिक योजना आदि का निर्माण करना पड़ता है, ताकि सत्रारम्भ के प्रथम दिवस से ही विद्यालय का नियमित रूप से कार्य प्रारम्भ हो सके। योजना निर्माण विद्यालय प्रबन्ध अथवा प्रधानाध्यापक की सफलता की प्रथम कड़ी है।

(2) संगठन— विद्यालय प्रबन्ध का दूसरा तत्त्व संगठन है, जिसे मुख्यत: तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(i) मानवीय संगठन की दृष्टि से शिक्षक, कार्यालय कर्मचारी, चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी आदि की नियुक्तियाँ उच्चाधिकारियों से कराना, ताकि विद्यालयों की शिक्षा में व्यवधान उत्पन्न न हो।

(ii) आर्थिक संगठन के अन्तर्गत विद्यालय का बजट प्राप्त करना, विद्यालय भवन में आवश्यकतानुसार नवीन कक्ष-निर्माण एवं साज-सज्जा, शालीय उपवन यदि हों आदि के रख-रखाव हेतु सरकार एवं जनसम्पर्क के माध्यम से धन प्राप्त कर विद्यालय को आदर्श विद्यालय बनाने से है।

(iii) शैक्षणिक संगठन की दृष्टि से विषयाध्यापकों के लिए उनकी योग्यतानुसार समय विभाग चक्र का निर्माण तथा शाला में प्रवेश कार्य आदि को समय पर पूर्ण कराने से है।

(3) निरीक्षण (पर्यवेक्षण)— विद्यालय प्रबन्ध का तीसरा तत्त्व है— निरीक्षण। सम्पूर्ण विद्यालय की शैक्षिक, सहशैक्षिक एवं अन्य गतिविधियों का प्रबन्ध, प्रधानाध्यापक निरीक्षण करता है। दूसरे शब्दों में, वह स्वयं विद्यालय का निरीक्षक होता है और स्वयं की बनायी योजना का निरीक्षण कर उसकी सफलता एवं असफलता का मूल्यांकन करता है और तद्नुसार उनमें परिवर्तन भी करता है।

(4) निर्देशन— विद्यालय प्रबन्ध का चौथा तत्त्व है— निर्देशन। निर्देशन के अन्तर्गत प्रधानाध्यापक अपने सहयोगी शिक्षकों, छात्रों अन्य कार्यरत कर्मचारियों और अभिभावकों को समय-समय पर आवश्यक निर्देश भी देता है। निर्देशन कार्य मौखिक एवं लिखित दोनों ही रूपों में होता है। कभी-कभी वह समस्त को एक साथ ही निर्देश देता है। उसके द्वारा दिये गये निर्देश शाला की खुशहाली, अध्यापकों का मार्गदर्शन तथा छात्रों की शैक्षिक प्रगति पर आधारित होते हैं।

(5) समन्वय— विद्यालय प्रबन्ध का पाँचवाँ तत्त्व समन्वय है, जिसके अन्तर्गत आर्थिक, भौतिक और मानवीय संसाधनों के अधिकतम उपयोग का तथा समन्वय का कार्य प्रधानाध्यापक को करना पड़ता है। वह प्रतिष्ठित व्यक्तियों को उत्सव एवं पर्वों पर आमंत्रित करता है। विद्यालय की भौतिक प्रगति हेतु उनसे आर्थिक सहायता प्राप्त करता है। प्रशासनिक अधिकारियों से अच्छे सम्बन्ध स्थापित कर विद्यालय के लिए साधन एवं सुविधाएँ उपलब्ध कराता है तथा शिक्षकों से भी सक्रिय सहयोग प्राप्ति हेतु सम्पर्क बनाये रखता है।

(6) प्रतिवेदन— विद्यालय प्रबन्ध का छठाँ तत्त्व प्रतिवेदन है। इसके अन्तर्गत विद्यालय सम्बन्धी प्रकरणों के प्रतिवेदनों को प्रबन्धक/प्रधानाध्यापक को तैयार कर उच्चाधिकारियों को प्रेषित करना पड़ता है। ये प्रतिवेदन विद्यालय भवन, वार्षिक योजना का मूल्यांकन, सह-शैक्षिक गतिविधियों का संचालन एवं कार्यान्वयन, अध्यापक- अभिभावक संगठन, छात्र-परिषद्, शिक्षकगण के वार्षिक कार्य का मूल्यांकन आदि से सम्बन्धित होते हैं। ये अति महत्त्वपूर्ण होते हैं और इन पर विद्यालयों की भावी प्रगति आधारित होती है।

(7) बजट बनाना— विद्यालय प्रबन्ध का सातवाँ तत्त्व बजट बनाना है। इसके अन्तर्गत वित्तीय एवं आर्थिक संसाधनों एवं उनके उपयोग हेतु बजट बनाना पड़ता है। बजट बनाना और उसे प्राप्त करना विद्यालय की अनिवार्य आवश्यकता है। इसके माध्यम से ही विद्यालय कर्मचारियों के वेतन-भत्तों का भुगतान, शैक्षणिक सामग्री का क्रय, खेलकूद प्रतियोगिताओं का आयोजन, विद्यालय साज-सज्जा आदि कार्य पूर्ण कराये जा सकते हैं।

प्रश्न 2. शिक्षक-शिक्षा में राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा-परिषद् की भूमिका का वर्णन कीजिए।

उत्तर— राष्ट्रीय शिक्षक शिक्षा परिषद् सन् 1973 से राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद् (एन०सी०ई०आर०टी०) के एक अनौपचारिक अंग के रूप में कार्य कर रही थी, परन्तु उस समय यह एक सत्ता विहीन संस्था थी। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में इसको संवैधानिक दर्जा प्रदान करने की परिकल्पना की गयी। सन् 1993 में संसद में एक ऐक्ट द्वारा इसको संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। इस परिषद् का मुख्यालय दिल्ली में स्थापित किया गया। इस ऐक्ट ने परिषद् को यह भी अधिकार प्रदान किया कि वह अपने क्षेत्रीय कार्यालय स्थापित कर सकती है।

परिषद् के कार्य— अधिनियम द्वारा परिषद् को निम्नलिखित प्रमुख कार्य निर्धारित किये गये हैं—

(1) शिक्षक-शिक्षा से विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित सर्वेक्षण एवं अध्ययन करना।
(2) शिक्षक-शिक्षा के क्षेत्र में विभिन्न उपयुक्त कार्यक्रमों की भारत तथा राज्य सरकारों, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा स्वीकृत संस्थाओं को संस्तुति करना।
(3) देश में शिक्षक-शिक्षा का विकास, नियन्त्रण एवं समन्वय करना।
(4) शिक्षक की नियुक्ति, ट्यूशन, फीस आदि के सम्बन्ध में मार्ग निर्देश प्राप्त करना।
(5) स्वीकृत संस्थाओं की जवाबदेही के लिए मानदण्ड एवं मूल्यांकन पद्धति का निर्धारण करना।
(6) शिक्षक-शिक्षा के व्यवसायीकरण को रोकने के लिए आवश्यक कदम उठाना।
(7) शिक्षक विकास कार्यक्रमों के लिए नवीन संस्थाओं की स्थापना करना।
(8) शिक्षक-शिक्षा के विभिन्न कोर्सों के लिए प्रवेश-नियमों, अभ्यर्थियों के चयन की प्रक्रिया, कोर्स की अवधि का निर्धारण, कोर्स की विषय-वस्तु आदि का निर्धारण करना।
(9) शिक्षक-शिक्षा संस्थाओं की स्वीकृति या सम्बद्धीकरण से सम्बन्धित नियमों का निर्धारण करना आदि।

प्रश्न 3. राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान तथा प्रशिक्षण परिषद् के कार्य बताइए।

उत्तर— भारत सरकार ने इस परिषद् की स्थापना सितम्बर, 1961 में की। यह शिक्षा मंत्रालय के अधीन एक स्वायत्त निकाय के रूप में कार्य करती है। केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री इसका अध्यक्ष होता है। सभी राज्यों के शिक्षा मन्त्री इसके सदस्य होते हैं। शिक्षा मंत्रालय का सचिव इसका संचालक होता है। शिक्षा आयोग का विचार है कि, "परिषद् का अपना पूर्णकालिक संचालक और संयुक्त संचालक होना चाहिए; क्योंकि परिषद् का आकार और महत्त्व ऐसा है कि उसका नेतृत्व ऐसे अंशकालिक के हाथ में देना गलत है, जिनकी निष्ठा और प्रतिबद्धता अन्यत्र है। संचालक का पद उपकुलपति के समान होना चाहिए। उसकी पदावधि पाँच वर्ष होनी चाहिए। यह अधिक-से-अधिक पाँच वर्ष और बढ़ायी जा सकती है।"

इस संस्था के प्रमुख कार्यों में अनुसन्धान कार्य को बढ़ावा देना। विद्यालय शिक्षा में सुधार, उच्च स्तर के प्रशिक्षण की व्यवस्था आदि को रखा जा सकता है। शिक्षा आयोग ने इसके कार्यों का विवेचन करते हुए लिखा है कि, "परिषद् का मुख्य कार्य राज्यों के शिक्षा विभागों के साथ मिलकर विद्यालय का विशेष रूप से ध्यान रखते हुए विस्तार कार्य करना है। यही एक संस्था है, जो इस कार्य के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है; क्योंकि संघ के शिक्षामंत्री इसके अध्यक्ष और सभी राज्यों के शिक्षामंत्री इसके सदस्य हैं। अत: नीति विषयक उद्देश्य यह होना चाहिए कि इस परिषद् को एक ऐसे प्रमुख तकनीकी साधन के रूप में विकसित किया जाय, जो विद्यालय शिक्षा के सुधार के लिए राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करें और जो राष्ट्रीय स्कूल, शिक्षा बोर्डों, राज्यों के शिक्षा-विभागों और राज्य शिक्षा-संस्थानों जैसे उनके तकनीकी साधनों के साथ मिलकर उनके माध्यम से कार्य करें।" राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् इस समय चार क्षेत्रीय प्रशिक्षण कॉलेज-अजमेर, भोपाल, भुवनेश्वर तथा मैसूर में चला रही है। इन कॉलेजों में माध्यमिक स्कूलों के शिक्षकों को प्रशिक्षण दिया जाता है। इनके अतिरिक्त परिषद् ने राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थान की भी स्थापना की है। यह संस्था अनुसंधान तथा शिक्षण प्रशिक्षण के कार्यक्रमों के संचालन में महत्त्वपूर्ण योगदान कर रही है। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान तथा प्रशिक्षण परिणद् की निम्नलिखित संविधायी इकाइयाँ हैं, जिनके माध्यम से वह शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है—

1. केन्द्रीय शिक्षा-संस्थान,
2. शिक्षण उपकरण विभाग,
3. शैक्षिक पर्यवेक्षण इकाई,
4. शिक्षक-शिक्षा विभाग,
5. पूर्व प्राथमिक तथा प्राथमिक शिक्षा विभाग,
6. बेसिक शिक्षा-विभाग,
7. पाठ्य-पुस्तक विभाग तथा प्रकाशन इकाई,
8. विज्ञान शिक्षा विभाग,
9. अभिलेख तथा सूचना इकाई,
10. समाज विज्ञान तथा मानवीय शास्त्र विभाग।

शिक्षा आयोग का सुझाव है कि परिषद् के केन्द्रीय शिक्षा-संस्थान को दिल्ली विश्वविद्यालय के अधीन कर दिया जाये।

प्रश्न 4. विद्यालय-पुस्तकालय के शैक्षिक महत्त्व का वर्णन कीजिए।

उत्तर— पुस्तकालय ज्ञान का अक्षय भण्डार है। पुस्तकालय समाज एवं विद्यालय का बौद्धिक भोजन है। पुस्तकालय के महत्त्व को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

1. छात्रों के ज्ञान-वर्द्धन में योग— शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है— छात्रों के ज्ञान का विकास करना। किन्तु केवल पाठ्यपुस्तकों का ही अध्ययन करके ज्ञान का विकास नहीं हो सकता। अन्य सहायक पुस्तकों का अध्ययन भी आवश्यक है। पुस्तकालय में सभी प्रकार की पुस्तकें होती हैं जिन्हें पढ़कर छात्र अपने सामान्य ज्ञान की वृद्धि कर सकता है।

2. स्वाध्याय की प्रवृत्ति का विकास— पुस्तकों का अध्ययन करके छात्र स्वयं में स्वाध्याय की आदत डालते हैं। पाठ्य पुस्तकों से सम्बन्धित अन्य पुस्तकें पढ़ने से उनके अन्दर अपने विषय के प्रति जिज्ञासा तथा रुचि उत्पन्न होती है।

3. विभिन्न क्षेत्रों में छात्रों की रुचियों को प्रेरित करना तथा उन्हें विकसित करना— पुस्तकालय छात्रों में विभिन्न रुचियों का विकास करता है। छात्र अनेक विषयों से सम्बन्धित पुस्तकें पढ़ते हैं और अपनी विशेष रुचि तथा सामर्थ्य के अनुसार अपने मस्तिष्क का विकास करते हैं। वाद-विवाद, कविता-पाठ आदि में पुस्तकालय से ज्यादा सहायता प्राप्त की जाती है।

4. निर्धन छात्रों की सहायता— हमारा देश एक गरीब देश है। यहाँ की 80 प्रतिशत जनता निर्धन है जो दोनों समय भर-पेट भोजन नहीं कर सकती, तो यह अपने बच्चों को पुस्तकें कहाँ से खरीद सकती है और खरीद भी सकती है तो ज्यादा नहीं। इस तरह ये गरीब विद्यार्थी पुस्तकालय में जाकर पुस्तकें प्राप्त करके अपने ज्ञान की वृद्धि करते हैं।

5. अवकाश-काल का सदुपयोग— विद्यालय में पुस्तकालय रहने से विद्यार्थियों का समय नष्ट नहीं होता। यदि उनके घण्टे खाली हैं, तो वे पुस्तकालयों में जाकर उस समय का उपयोग कर सकते हैं। पुस्तकालय के न होने से विद्यार्थी का समय इधर-उधर घूमने तथा खेलने-कूदने में समाप्त हो जाता है, इस तरह वह अपने समय का सदुपयोग पुस्तकालय के न रहने से नहीं कर पाता, साथ-साथ अध्यापक भी अपने अवकाश के समय में पुस्तकालय से पुस्तकें लेकर समय का उपयोग कर लेते हैं।

6. अध्यापकों के लिए उपयोगी— पुस्तकालय से अध्यापक विशेष रूप से लाभान्वित होते हैं। अध्यापकों को अपना बौद्धिक विकास करने में पुस्तकालय से बड़ी सहायता मिलती। वे अपने विषय की अनेक दूसरी पुस्तकें पढ़कर अपने ज्ञान का विकास करते हैं।

7. सामूहिक शिक्षा के दोषों का निवारण— पुस्तकालय द्वारा सामूहिक अध्ययन के दोषों को दूर किया जा सकता है। कक्षा में अधिक छात्र होने के कारण अध्यापक प्रत्येक छात्र को अधिक समय नहीं दे सकता। किन्तु उस विषय की अनेक पुस्तकों को पढ़ने के लिए बता सकता है। इस प्रकार वे अपने विषय की सहायता से समझ सकते हैं।

8. मौन पाठ का अभ्यास— पुस्तकालय का सबसे बड़ा लाभ छात्रों में मौन पाठ का अभ्यास डालना है। पुस्तकालय में बैठकर छात्र जोर-जोर से अध्ययन नहीं कर सकते, क्योंकि वहाँ अनेक छात्र रहते हैं। इसलिये उन्हें मौन पाठ करने की आदत पड़ जाती है।

9. विद्यालय के पश्चात् भी शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा— पुस्तकालय छात्रों को अध्ययन का इतना शौकीन बना देता है कि वे शिक्षा समाप्त होने के बाद भी पुस्तकालय में पुस्तकें पढ़ा करते हैं। इस प्रकार उनका शिक्षा का क्रम भी भंग नहीं होता।

10. शब्द-भण्डार की वृद्धि— पुस्तकालय से विद्यार्थियों को बहुत लाभ होता है। उनसे विद्यार्थियों के शब्द-भण्डार में वृद्धि होती है, जिससे वे उनका अपने जीवन में उपयोग करते हैं।

11. पुस्तकालय सामान्य ज्ञान के लिए आवश्यक है— पुस्तकालय का सबसे अधिक महत्त्व सामान्य ज्ञान के विकास में है। पुस्तकों का अध्ययन तो केवल परीक्षा केन्द्रित ही होता है। पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त और भी अन्य पुस्तकें हैं, जिससे सामान्य ज्ञान की वृद्धि होती है।

प्रश्न 5. शैक्षिक प्रशासन के क्षेत्र का वर्णन कीजिए।

उत्तर— शैक्षिक प्रशासन का क्षेत्र— ''प्रशासन'' शब्द अंग्रेजी शब्द "Administor" का हिन्दी रूपान्तरण है और जो लैटिन भाषा के "Administrate" शब्दों की सन्धि से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है— काम करवाना। प्रत्येक प्रशासक स्वयं तो कार्य करता ही है, किन्तु प्रशासक इसलिए कहा जाता है कि वह औरों से भी काम करवाता है।

शैक्षिक प्रशासन के क्षेत्र की संक्षिप्त रूपरेखा अधोलिखित प्रकार से व्यक्त की जा सकती है—

1. मानवीय सम्बन्धों की स्थापना— शैक्षिक प्रशासन शिक्षण संस्थाओं में मानवीय सम्बन्धों की स्थापना करता है। शिक्षण संस्थाओं में कार्यरत व्यक्तियों के मध्य प्रेम-भाव बढ़ाने में प्रशासक की सूझ-बूझ ही अत्यन्त सहायक होती है।

2. शिक्षण प्रक्रियाओं की योजना का निर्माण करना— शैक्षिक प्रशासन शिक्षण प्रक्रिया की योजना बनाता है।

3. अध्यापकों की नियुक्ति एवं सेवा सुरक्षा— विद्यालयों में विषयानुसार शिक्षकों की नियुक्ति, शिक्षकों के वेतन की व्यवस्था, कल्याणार्थ आवास आदि की व्यवस्था करना भी शैक्षिक प्रशासन का कार्य है।

4. शिक्षण-पद्धतियों के सम्बन्ध में जानकारी प्रदान करना भी प्रशासन के दायित्व का एक अंग है।

5. भौतिक तत्त्वों का संगठन करना, जिसके अन्तर्गत धन की व्यवस्था, खेल के मैदान में निर्माण तथा धन प्राप्त करने के स्रोतों का स्पष्ट ज्ञान।

6. छात्र वर्ग का चिन्तक— शैक्षिक प्रशासन का दायित्व होता है कि वह छात्रों की विभिन्न प्रकार की समस्याओं को दूर करने की चेष्टा करे।

7. अनुशासन की स्थापना करना— शैक्षिक प्रशासन का दायित्व है कि वह विद्यालय में अनुशासन की व्यवस्था करे। अनुशासन की उचित व्यवस्था प्रशासन की सफलता का प्रमुख आधार है।

8. वांछनीय सहायक सामग्री की व्यवस्था करना भी शैक्षिक प्रशासन का ही कार्य है।

9. निर्देशन एवं कार्यान्वयन— शैक्षिक प्रशासन को निर्देशन प्रदान करने में भी दक्ष होना चाहिए।

10. शैक्षिक समस्याओं के समाधान में भी शैक्षिक प्रशासन को पहल करना चाहिए।

प्रश्न 6. प्रधानाचार्य के कर्त्तव्य एवं दायित्व के बारे में विश्लेषण कीजिए।

उत्तर— प्रधानाचार्य के कर्त्तव्य एवं दायित्व निम्नलिखित हैं—

(अ) निरीक्षण सम्बन्धी कार्य— रायबर्न के शब्दों में शिक्षण विस्तार रूप में होना चाहिए। विद्यालय की समस्त क्रियाएँ इसके अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत की जाती हैं। विद्यालय जीवन का कोई भी अंग अछूता नहीं होना चाहिए, जिसका कि प्रधानाध्यापक द्वारा निरीक्षण न किया जाये, क्योंकि छात्र को बनाने एवं बिगाड़ने में विद्यालय की सभी बातें कुछ-न-कुछ योग अवश्य देती हैं। अत: निरीक्षण सम्बन्धी कार्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा व्यापक है, जो निम्नलिखित हैं—

1. शिक्षण कार्य का निरीक्षण— इसे निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत व्यक्त किया जा सकता है—

(i) परीक्षा के प्रश्न-पत्रों का निरीक्षण।

(ii) शिक्षकों द्वारा किये जाने वाले ट्यूशनों का निरीक्षण।

(iii) शिक्षकों की डायरी का निरीक्षण।

(iv) कला-शिक्षण कार्य का निरीक्षण।

(v) लिखित कार्य का निरीक्षण।

2. कार्यालय के कार्य एवं रजिस्टरों का निरीक्षण— प्रधानाचार्य को अपने विद्यालय के कार्यालय के कार्यों एवं उसके रजिस्टरों की देखरेख करना अति आवश्यक है। प्रतिदिन के पत्र व्यवहारों का उसे अवलोकन करना चाहिए और उनके उत्तर भी अपने सामने भेजवाना चाहिए। उसे हर महीने कक्षा-रजिस्टरों का निरीक्षण करना चाहिए। उसे प्रत्येक तीन महीने पर एक बार प्रवेश रजिस्टर एवं सम्पत्ति रजिस्टर का भी निरीक्षण अवश्य करना चाहिए और छोटे-मोटे व्ययों सम्बन्धी लेखा-जोखा वाले रजिस्टर का भी महीने में एक बार अवश्य निरीक्षण करना चाहिए।

प्रॉविडेन्ट फण्ड का निरीक्षण वर्ष में एक बार अवश्य करें।

प्रधानाध्यापक को पुस्तकालय फण्ड, खेलकूद फण्ड आदि की भी देखरेख अवश्य करनी चाहिए।

3. छात्रावास का निरीक्षण— एक प्रधानाचार्य को छात्रावास सम्बन्धी निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—

(i) भोजन, खाने-पीने की व्यवस्था, बर्तनों की सफाई आदि।

(ii) स्नानगृह, शौचालय, मूत्रालय आदि।

(iii) शयन कक्षों की सफाई तथा रोशनी की व्यवस्था आदि।

(iv) खेल का मैदान, पुस्तकालय, वाचनालय आदि।

(v) उपस्थिति रजिस्टर आदि।

(ब) सम्पर्क—

1. शिक्षकों से सम्पर्क— प्रधानाध्यापक को शिक्षकों के साथ सम्पर्क स्थापित क के लिए निम्न बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

(i) प्रधानाध्यापक का सम्पूर्ण व्यवहार सहयोग एवं मित्रता के सिद्धान्त पर आधा होना चाहिए।

(ii) उसे इस प्रकार सुझाव देना चाहिए कि इसके मान-सम्मान पर ठेस न पहुँचे।

(iii) उसे शिक्षकों की व्यावहारिक समस्याओं को सौहार्दपूर्ण सुनकर उसके नि का प्रयास करना चाहिए।

(iv) उसे शिक्षकों के परामर्श एवं विचार जानने के लिए समय-समय पर सम्मेल को बुलाते रहना चाहिए।

2. छात्रों से सम्पर्क— प्रधानाध्यापक को छात्रों से मधुर सम्बन्ध बनाये रखने के लि निम्न बातों को ध्यान में रखना आवश्यक होगा—

(i) प्रतिदिन छात्रों को पढ़ाने के लिए एक-दो घण्टे का समय अवश्य निकाला जाये

(ii) छात्रों के साथ निष्पक्ष एवं सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार किया जाना चाहिए।

(iii) प्रवेश के समय छात्रों से परिचय करना चाहिए।

(iv) छात्रों की कठिनाइयों को ध्यानपूर्वक सुनना और उसका निदान करना चाहिए

3. अभिभावकों से सम्पर्क— अभिभावकों के साथ सम्बन्ध बनाये रखने से छात्रों व सम्पूर्ण समस्याओं का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। अत: उनसे सहयोग एवं सम्पर्क के लि प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह विद्यालयों के विभिन्न अवसरों या समारोहों में उन्हें आमंत्रि करे और विद्यालय की प्रगति से उन्हें अवगत कराये।

यह वि हुअ है।

4. समाज से सम्पर्क— "विद्यालय समाज का लघु रूप कहा गया है।" इसक निर्माण समाज की आवश्यकताओं, आदर्शों एवं उन्नति के लिए किया जाता है। अत प्रधानाध्यापक केवल विद्यालय का ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण समाज का नेता है। ऐसी स्थिति उसे समाज में मधुर एवं उचित सम्पर्क बनाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। इसक लिए उसे विद्यालय को सामाजिक क्रियाओं, उत्सवों व समारोहों के केन्द्र के रूप में खुल छोड़ देना चाहिए, ताकि समाज के व्यक्ति उसका प्रयोग कर सकें।

(स) प्रधानाचार्य के मूल्यांकन सम्बन्धी कार्य— एक प्रधानाचार्य को मूल्यांक करने की रीतियाँ व पद्धतियाँ यथा— निरीक्षण, परीक्षण, प्रश्नावली, साक्षात्कार, अभिले आदि का ज्ञान होना बहुत ही जरूरी है। इससे मालूम हो सकेगा कि विद्यालय संचालन में उ कहाँ तक सफलता मिली। उसे यह मालूम करना चाहिए कि—

(क) विद्यालय की क्रियाएँ बालकों में सामाजिक एवं नैतिक गुणों के विकास सहायक हुई हैं या नहीं?

15. **अन्य सम्बन्धित गुण—** एक बुद्धिमान शिक्षक को मानसिक दृष्टि से स्वस्थ होने के बावजूद भी मृदुभाषी, सामाजिक क्रियाओं में रुचि रखने वाला, नेतृत्व में सक्षम, व्यवहार कुशल, वाक्पटु, परिश्रमी, अन्धविश्वासी तथा स्वतन्त्र-निर्णय वाला, ईमानदार व्यक्ति होना परमावश्यक है। कपटी, चाटुकारी, आत्मप्रशंसा करने वाले और निन्दावान व बुराई करने वाले शिक्षक समाज के लिए अभिशाप हैं।

प्रश्न 8. शैक्षिक प्रबन्धन तथा सामान्य प्रबन्धन में अन्तर बताइए।

उत्तर— शिक्षा प्रबन्धन तथा सामान्य प्रबन्धन में अन्तर

शिक्षा-प्रबन्धन का समन्वय शिक्षा की सम्पूर्ण प्रक्रिया से होता है। इसके विपरीत सामान्य प्रबन्धन उद्योग-व्यापार-वाणिज्य किसी भी क्षेत्र से सम्बन्धित हो सकता है। शिक्षा प्रबन्धन तथा सामान्य प्रबन्धन में निहित मूलभूत अन्तरों को निम्नवत् उद्घाटित किया जा सकता है—

1. शिक्षा-प्रबन्धन का क्षेत्र शिक्षा के विविध उद्देश्यों एवं लक्ष्यों तक सीमित होता है, जबकि सामान्य प्रबन्धन जीवन के विविध पहलुओं से सम्बन्धित होता है।
2. शिक्षा-प्रबन्धन में छात्रों में सुधार एवं गुणात्मक उन्नयन का ध्यान रखा जाता है, जबकि सामान्य प्रबन्धन में नियमों का अनुपालन तथा कठोर परिश्रम से अधिक उत्पादन की रूपरेखा निहित होती है।
3. शिक्षा-प्रबन्धन में बाल केन्द्रित दृष्टिकोण की प्रधानता रहती है, जबकि सामान्य प्रबन्धन में नियमों, कानूनों को दृष्टिगत रखा जाता है।
4. शिक्षा प्रबन्धन मुख्यत: प्रेम, सहयोग, मित्रता पर अवलम्बित होता है, जबकि सामान्य प्रबन्धन में कठोरता विद्यमान होती है।
5. शिक्षा प्रबन्धन मूलत: सामान्य प्रबन्धन का एक क्षेत्र या आयाम है।
6. शिक्षा प्रबन्धन, शिक्षा की प्रगति से सम्बन्धित होता है, जबकि सामान्य प्रबन्धन में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि सभी प्रकार की प्रगति समाहित होती है।
7. शिक्षा प्रबन्धन प्राय: विद्यालयीय-व्यवस्था से सम्बन्धित होता है, जबकि सामान्य प्रबन्धन समाज, राष्ट्र की विविध-व्यवस्थाओं से सम्बन्धित होता है।

प्रश्न 9. सन्तुलित आहार से क्या आशय है? सन्तुलित आहार को प्रभावित करने वाले कारकों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर— सन्तुलित आहार— भूख को शान्त करने के लिए मनुष्य आहार का उपयोग करता है। परन्तु आहार का उपयोग करने का उद्देश्य केवल क्षुधा सन्तुष्टि ही नहीं होता, इसका मुख्य लक्ष्य शरीर को पूर्णत: स्वस्थ, निरोग तथा पुष्ट बनाये रखना होता है। इसीलिए मनुष्य जो आहार लेता है वह शारीरिक आवश्यकता की दृष्टि से पर्याप्त या सर्वोत्तम हो सकता है। हमारे देश में अधिकांश व्यक्तियों को भूख की सन्तुष्टि के लिए पर्याप्त आहार मिलता है, परन्तु पोषक तत्त्वों की शारीरिक आवश्यकता की दृष्टि कम व्यक्तियों को उपयुक्त आहार मिल पाता है। भोजन ऊर्जा प्रदान करने वाला और वृद्धि कारक होना चाहिए। इतना ही पर्याप्त नहीं होता, शरीर के विभिन्न अवयवों को क्रियाशील, पूर्णत: स्वस्थ एवं निरोग बनाये रखना

भी आवश्यक है। इसलिए सन्तुलित आहार का आयोजन आवश्यक होता है। सन्तुलित आहार सर्वोत्तम माना जाता है, क्योंकि इस आहार में हमारे शरीर को उपयुक्त मात्रा में ऊर्जादायक, वृद्धि-कारक, क्षतिपूरक तथा समस्त शरीर को निरोग रखने वाले सारे तत्त्व सम्मिलित होते हैं। यह आहार पर्याप्त तो होता ही है, इसके साथ-साथ यह शारीरिक वृद्धि व विकास की दृष्टि से भी अनुकूल होता है। शारीरिक आवश्यकतानुसार इसमें कार्बोज, वसा, खनिज लवण तथा विभिन्न विटामिनों की अनुकूलतम मात्रा का समावेश होता है। इसी को सन्तुलित आहार कहते हैं।

इस प्रकार सन्तुलित आहार का तात्पर्य महँगी वस्तुओं से नहीं है। सस्ते खाद्य पदार्थों को भी इस श्रेणी में रखा जा सकता है। सन्तुलित आहार वह होता है जो शरीर को उसकी आवश्यकतानुसार सभी पोषक तत्त्व प्रदान करता हो।

डॉ. न्यास के शब्दों में— "वह भोजन जो शरीर की कैलोरीज की पूर्ति करता हो तथा भ्रामक व सुरक्षात्मक तत्त्व प्रदान सकता हो, सन्तुलित आहार कहलाता है।"

डॉ. अकेलेस्टर के अनुसार— "सन्तुलित भोजन से आशय है, वह भोजन जो मनुष्य के रोगों या स्वस्थ अवस्था में व्यक्ति की ऊर्जा की आवश्यकता के अनुसार होता है।"

भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् के अनुसार— "सन्तुलित आहार वह आहार है जिसमें शरीर की वृद्धि, विकास-कार्य तथा स्वास्थ्य संरक्षण के लिए सभी आवश्यक तत्त्व, मात्रा व गुणों में सन्तुलित रूप में पाये जाते हैं।"

सन्तुलित भोजन का महत्त्व

सन्तुलित भोजन शरीर की वृद्धि व उत्तम स्वास्थ्य के लिए आवश्यक होता है। मनुष्य का शारीरिक आकार यष्टि तथा स्वास्थ्य सन्तुलित भोजन से ठीक रहता है। भोजन में जिस तत्त्व की कमी पायी जाती है, उसी से सम्बन्धित रोग व्यक्ति को हो जाते हैं। सन्तुलित भोजन वह है जो शारीरिक आकार, आयु, कार्य, जलवायु आदि के अनुरूप लिया जाय।

सन्तुलित आहार को प्रभावित करने वाले कारक

विभिन्न व्यक्तियों को भोजन की अलग-अलग मात्रा व भिन्न भिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थों की आवश्यकता होती है। सामान्यत: सन्तुलित आहार निम्नलिखित कारकों द्वारा प्रभावित होता है—

1. आयु— बच्चों को उनके शरीर को देखते हुए प्रौढ़ों की अपेक्षा अधिक भोजन की आवश्यकता होती है, क्योंकि भोजन से बालक गर्मी व शक्ति ही नहीं प्राप्त करते, वरन् भोजन उनके शरीर की वृद्धि व विकास के लिए भी आवश्यक होता है। उन्हें चर्बी तथा प्रोटीन की अधिक आवश्यकता होती है। वृद्धावस्था में जीवन की आवश्यकता कम हो जाती है। कारण यह है कि इस अवस्था में मनुष्य की पाचन-शक्ति कमजोर पड़ जाती है। इस दृष्टि से व्यक्ति की आयु को सन्तुलित आहार के स्वरूप को प्रभावित करने वाला कारक माना गया है।

2. लिंग— पुरुष तथा स्त्रियों के शारीरिक अंगेष्टि, कार्य करने की गति तथा आकार और भार में अन्तर पाया जाता है। इस कारण दोनों के सन्तुलित आहार में भी अन्तर रहता है। स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा कम भोजन की आवश्यकता होती है, क्योंकि स्त्रियों की लम्बाई

पुरुषों से कम होती है। उनके शरीर का भार भी कम होता है। वे हलका कार्य कर पाती हैं परन्तु गर्भावस्था में उन्हें अधिक भोजन की आवश्यकता होती है। साधारण रूप से सभी पौष्टिक तत्त्व स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को अधिक चाहिए।

3. जलवायु— भोजन की मात्रा का जलवायु पर भी प्रभाव पड़ता है। शीतप्रधान देशों के निवासियों को उष्ण देशों के निवासियों की अपेक्षा अधिक भोजन की आवश्यकता होती है। ठंडे देशों में गरम देशों की तुलना में भाप का उपयोग अधिक होता है। इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु में भूख कम लगती है जिसके कारण शरीर का भार कम हो जाता है। परन्तु शीत ऋतु में अधिक भूख लगने के कारण अधिक भोजन लिया जाता है तथा शरीर का भार भी बढ़ जाता है।

4. परिश्रम— शारीरिक श्रम करने वालों को अधिक भोजन की आवश्यकता पड़ती है। परिश्रम करने के कारण उनके शरीर की ऊर्जा पर्याप्त मात्रा में व्यय होती है। उस कमी को पूरा करने के लिए सन्तुलित भोजन में कार्बोज की मात्रा अधिक होनी चाहिए। इसके विपरीत आराम से बैठे रहने वालों तथा मानसिक कार्य करने वालों को कम भोजन की आवश्यकता होती है। उनके भोजन में कम कार्बोज तथा प्रोटीन की मात्रा अधिक होनी चाहिए। इस प्रकार व्यक्ति का परिश्रम सन्तुलित आहार को प्रभावित करने वाला एक कारक है।

प्रश्न 10. विद्यालय में 'अभिभावक-शिक्षक संघ' की क्या आवश्यकता है?

उत्तर— प्रत्येक अभिभावक की यह कामना होती है कि वह अपने बच्चों के सुन्दर भविष्य का निर्माण करने में सफल हो। शिक्षा स्कूलों में व्यक्तिगत एवं सामाजिक कुशलता लाती है। प्राचार्य एवं अध्यापकों को अभिभावकों से सहयोग के लिए सदा इच्छुक रहना चाहिए। अभिभावकों को विद्यालय में सम्मान और प्रेम मिलना चाहिए। विद्यालय को अभिभावकों का जितना अधिक सक्रिय सहयोग प्राप्त होगा, विद्यालय एवं अभिभावक उतनी ही प्रभावशाली शिक्षा बच्चों को दे सकते हैं। विद्यालय एवं परिवार के बीच गहरी खाई शिक्षा का वातावरण विषाक्त कर देती है। वस्तुत: अभिभावकों के सहयोग की अपेक्षा निम्न कारणों से अधिक उपयोगी मानी जाती है—

(1) बच्चों की सम्यक् जानकारी प्राप्त करने के लिए अभिभावकों का सहयोग लेना आवश्यक है ताकि प्रभावशाली शिक्षा दी जा सके।

(2) बालक के विकास के लिए दोनों का समान दायित्व है। इसमें एक की लापरवाही ही छात्र के लिए अहितकर होती है। छात्र का अधिक सम्पर्क घर से होता है अतएव विद्यालय का झुकाव घर की तरफ होना अनिवार्य है।

(3) शिक्षा का केन्द्र बालक है अध्यापक माली है और बच्चे छोटे-छोटे कोमल पौधे हैं। माली को पौधों के विषय में समुचित जानकारी लेने के लिए घर से सम्पर्क रखना अनिवार्य है।

(4) बालकों के घर की परिस्थितियाँ, उनकी शिक्षा और व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं। अत: घर की परिस्थिति जानकर अपेक्षित सुधार आवश्यक है।

(5) विद्यालय एवं अभिभावक के सहयोग से विद्यालयों में अनुशासनहीनता की समस्या नहीं आयेगी।

(6) बच्चों की रुचि, क्षमता एवं कमजोरियों का पता घर के सहयोग से प्राप्त होता है।

(7) वर्तमान शिक्षा मात्र किताबी नहीं है बच्चों के सर्वांगीण विकास का नाम शिक्षा है। सर्वांगीण विकास के लिए सर्वांगीण परिस्थितियों का सहयोग आवश्यक है।

(8) बच्चों को अध्ययन की आवश्यक सुविधा घर पर ही मिलनी चाहिए। इसके लिए विद्यालय को घर से सम्बन्ध बनाये रखना नितान्त आवश्यक है। अभिभावकों को समझा कर अध्ययन की स्थिति पैदा करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है।

(9) विद्यालय का अनुशासन बनाये रखने के लिए भी अभिभावक का सहयोग आवश्यक है। यदि कोई बालक त्रुटि करता है या अनुशासनहीनता दिखाता है तो इस बात की सूचना अभिभावक को दे देना आवश्यक है। जब अभिभावकों को बालक के व्यवहार का पता चलता है तो उन्हें घर से कड़ाई मिलती है। फलत: उसकी आदतों में स्वत: सुधार होने लगता है।

इस प्रकार एक अच्छे विद्यालय, वहाँ के प्राचार्य व अध्यापकों का कर्त्तव्य होता है कि विद्यालय के सभी बच्चों के अभिभावक से सम्बन्ध स्थापित करें और बालक के विकास में सहायता प्रदान करें।

प्रश्न 11. संक्रामक रोग से क्या आशय है? इसके प्रसार के कौन-कौन-से साधन हैं?

उत्तर—वे रोग जो छुआछूत के कारण एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में संक्रमित हो जाते हैं, संक्रामक रोग कहलाते हैं। ये रोग निम्न प्रकार से प्रसारित होते हैं—

(अ) वायु द्वारा, (ब) भोजन एवं जल द्वारा,

(स) जननेन्द्रिय मार्ग द्वारा, (द) सम्पर्क द्वारा,

(य) कीड़ों द्वारा, (र) चर्म घर्षण द्वारा,

(ल) संवाहक द्वारा।

प्रश्न 12. स्वास्थ्य-शिक्षा का विषय-क्षेत्र निर्धारित कीजिए।

उत्तर—स्वास्थ्य जीवनयापन के नियमों का छात्रों को ज्ञान कराने का एक ढंग स्वास्थ्य शिक्षा है। अनेक विद्वानों ने अपने-अपने जीवन-दर्शन के आधार पर विभिन्न रूपों में परिभाषित किया है।

थामस ने इसके विषय में लिखा है—"स्वास्थ्य शिक्षा उन अनुभवों का योग है, जो व्यक्ति, समुदाय तथा प्रजाति के स्वास्थ्य से सम्बन्धित आदतों, वृत्तियों एवं ज्ञान को प्रभावित करते हैं।"

ग्राउट ने स्वास्थ्य शिक्षा को सामुदायिक क्रिया और सामुदायिक उद्देश्य के रूप में परिभाषित करते हुए लिखा है—"स्वास्थ्य शिक्षा शैक्षिक प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति तथा समुदाय के स्वास्थ्य सम्बन्धी व्यवहार के विषय में जो कुछ ज्ञान है, उसका अनुवाद है।"

विषय-क्षेत्र— स्वास्थ्य शिक्षा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। साधारणतया इसके क्षेत्र के अन्तर्गत बालकों के स्वास्थ्य का संरक्षण, स्वास्थ्य में उत्पन्न विभिन्न दोषों एवं बीमारियों की

खोज तथा उनका निराकरण और उनके स्वास्थ्य में वृद्धि हेतु, उन्हें स्वास्थ्य सम्बन्धी निय आदि से अवगत कराना है। इसलिए शैक्षिक क्षेत्र में व्यक्तिगत स्वास्थ्य (Individual Heal शारीरिक शिक्षा (Physical Education) स्वास्थ्य विज्ञान तथा सामुदायिक स्वास्थ्य सम्बन्धित तथ्यों के ज्ञान की आवश्यकता है।

विद्यालय के विभिन्न आयामों की उपयुक्तता, संक्रामक रोगों पर नियन्त्रण हेतु विभि साधनों आदि पर नजर रखना आवश्यक होता है। इसका क्षेत्र संरक्षण तक ही नहीं है वरन भी देखना पड़ता है कि बच्चों की स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यकताएँ क्या हैं? उनका डाक्ट परीक्षण सही रूप से किया जाता है या नहीं। इस प्रकार से सम्पूर्ण बिन्दु इसके क्षेत्र में समाहि है।

प्रश्न 13. विद्यालय में अनुशासन की समस्या के समाधान के उपाय बताइए।

उत्तर— अनुशासनहीनता को दूर करने के उपाय— आचार्य नरेन्द्रदेव समिति गहराई में जाकर अनुशासनहीनता का अध्ययन किया है और उसको रोकने के लि निम्नलिखित उपाय बताये हैं—

(1) विद्यालय में प्रत्येक अध्यापकों के जिम्मे 20-25 विद्यार्थी कर दिये जायँ, जे उसके आस-पास के क्षेत्रों में रहते हों और अध्यापक इनके व्यवहारों का निरीक्षण करके उनके बारे में टिप्पणियाँ लिखता रहे।

(2) सरकार ऐसे विद्यालयों का सम्मान करे, जिनके विद्यार्थी अनुशासित हों।

(3) अध्यापकों और अभिभावकों की ऐसी समितियाँ बनायी जायँ, जिनमें अनुशासनहीनता के कारणों तथा उसको दूर करने के उपायों पर विचार हो।

(4) अनुशासन बनाये रखने के लिए विद्यार्थियों की एक परामर्शदात्री समिति प्रत्येक विद्यालय में हो, जो प्रधानाचार्य की सहायता करे।

(5) शारीरिक दण्ड, निष्कासन, शिक्षा पाने से रोकने आदि के दण्ड का अधिकार एकमात्र प्रधानाचार्य को ही दिया जाय।

(6) 'एजूकेशन कोड' में प्रत्येक कक्षा के लिए निर्धारित बच्चों की आयु में दो वर्ष की और कमी कर दी जाय।

(7) विद्यार्थियों में शारीरिक क्रम और समाज-सेवा के भाव उत्पन्न करने के लिए प्रत्येक विद्यालय प्रतिवर्ष कम-से-कम 40 घण्टे इन कार्यों में विद्यार्थियों को लगाने की योजना बनाये।

(8) विद्यार्थियों के शारीरिक विकास पर जोर दिया जाय। विद्यालय का एक-चौथाई समय इसमें लगाया जाय।

(9) विद्यार्थियों का प्रगति विवरण-पत्र रखा जाय, जिसमें आचरण तथा अनुशासन पर भी टिप्पणियाँ हों।

(10) बालोपयोगी फिल्में बच्चों को दिखायी जायँ।

(11) बुरी फिल्मों से बच्चों को अलग रखा जाय।

(12) आकाशवाणी और शिक्षा-विभाग के सहयोग से बालोपयोगी कार्यक्रम प्रसारित किये जायँ।

समिति की उपर्युक्त रिपोर्ट के आधार पर निम्न उपाय अनुशासन हेतु किये जा सकते हैं—

(i) शिक्षा का उद्देश्य निश्चित कर दिया जाय।

(ii) प्रत्येक विद्यालय में एक मनोवैज्ञानिक मार्गदर्शक की नियुक्ति की जाय।

(iii) बेकारी को रोकने का प्रयास किया जाय और शिक्षा का सम्बन्ध, देश की योजनाओं से जोड़ा जाय।

(iv) शिक्षा के पाठ्यक्रम को जीवन केन्द्रित, व्यावहारिक और जीवनोपयोगी बनाने का प्रयास किया जाय।

(v) मनोवैज्ञानिक शिक्षण-विधियों का प्रयोग किया जाय।

(vi) अध्यापकों की स्थिति में सुधार किया जाय।

(vii) विद्यालय व्यवस्था में सुधार किया जाय।

(viii) प्रबन्ध-समिति में सुधार किया जाय।

(ix) पाठ्यक्रमातिरिक्त कार्यक्रमों का संचालन किया जाय।

(x) विद्यालय और समाज और अभिभावक तथा शिक्षकों के बीच सम्पर्क बढ़ाया जाय।

(xi) परीक्षा पद्धति में सुधार किया जाय।

(xii) अच्छे छात्रों को पुरस्कृत कर प्रोत्साहित किया जाये।

प्रश्न 14. एक अच्छी समय-सारणी के आवश्यक गुणों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर— समय-सारणी विद्यालय में समय की पाबंदी, कार्य एवं उत्तरदायित्वों का सही बँटवारा और समय का सदुपयोग करती है तथा हर तरफ की अनिश्चितताओं, अनियमितताओं एवं शिथिलताओं को दूर करती है। विद्यालय में समय-सारणी का विशेष महत्त्व होता है। विद्यालय में विभिन्न योग्यता वाले छात्र विभिन्न रुचि, परिस्थिति एवं समस्या वाले अध्यापक एवं विभिन्न स्तर के विषय एवं कार्य होते हैं। इन सबका सही उपयोग विद्यालय की सफलता का सही मार्ग प्रस्तुत करता है।

एक अच्छी समय-सारणी में निम्न गुण होने चाहिए—

(i) थकावट के सिद्धान्त को ध्यान में रखना। विषय की दुरूहता व सप्ताह के दिनों के अनुसार बनायी गयी समय-सारणी।

(ii) विभिन्नता के सिद्धान्त का ध्यान।

(iii) घण्टे की अवधि, अवकाश, समय-तालिका का उदार व लोचदार होना आदि का पूरा ध्यान देकर समय-तालिका बने।

(iv) स्कूल की कार्यविधि और समय के वितरण को ध्यान में रखकर बनी तालिका अधिक उपयोगी है।

(v) पक्षपात रहित समय-सारणी।

(vi) सभी अध्यापकों की रुचि, सुविधा और परिस्थितियों को ध्यान में रखकर बनी समय-तालिका।

(vii) समय, परिस्थिति एवं मौसम का ध्यान रखकर बनी समय-तालिका।

(viii) सरल एवं बोधगम्यता युक्त समय-तालिका।

(ix) शिक्षकों एवं छात्रों के सम्पूर्ण विवरणों वाली समय-तालिका।

उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त तालिका अच्छी मानी जाती है।

प्रश्न 15. विद्यालय पर्यवेक्षण का क्षेत्र स्पष्ट कीजिए।

उत्तर— वर्तमान समय में शिक्षा को विकास का साधन माना जाता है। शैक्षिक पर्यवेक्षण उत्तम शिक्षण प्रक्रिया में पूर्णरूपेण सहायक सिद्ध हुआ है। अतएव देश की सम्पूर्ण शिक्षा प्रक्रिया को समृद्ध बनाने के लिए शैक्षिक पर्यवेक्षण की अत्यन्त आवश्यकता है। यह अग्र प्रकार है—

1. शिक्षकों के निरन्तर विकास में सहायक— शिक्षण क्षेत्र में लगातार नवीन विधियों, अनुसंधानों तथा आयामों का प्रादुर्भाव होता रहता है। अनुभवी अध्यापकों को अद्यतन बनाने के लिए शैक्षिक पर्यवेक्षण के अन्तर्गत विविध पाठ्यक्रमों का संचालन किया जाता है, जिससे उनकी शैक्षिक योग्यता में वृद्धि होती है। शैक्षिक पर्यवेक्षण के द्वारा आयोजित विचार-गोष्ठियों के परिणामों से भी शिक्षकों को अवगत कराया जाता है। सामाजिक परिवर्तन के साथ शिक्षण व्यवसाय में क्या परिवर्तन किये जायें, इसके लिए भी शैक्षिक पर्यवेक्षण सदैव सहायक होता है।

2. शैक्षिक कार्यकर्त्ताओं की कार्यक्षमता में सुधार करना— पर्यवेक्षण शिक्षा का एक अभिन्न अंग है। पर्यवेक्षण द्वारा विद्यालय सम्बन्धी कार्यकर्त्ताओं के कार्य की रूपरेखा निश्चित की जाती है, ताकि उनकी कार्यक्षमता को उन्नत किया जा सके।

3. शिक्षक के कार्यों में सुधार लाना— पर्यवेक्षण के माध्यम से शिक्षक के कार्यों को सुनिश्चित तथा प्रभावपूर्ण किया जाता है। साथ ही पर्यवेक्षण शिक्षण स्तर के विकास तथा शिक्षण की उचित व्यवस्था हेतु भी आवश्यक है।

4. कक्षा शिक्षण का प्रभावशाली बनना— शिक्षक के कक्षा शिक्षण को प्रभावशाली व आकर्षक बनाने हेतु पर्यवेक्षण की अत्यन्त आवश्यकता होती है। इसमें शिक्षक की कमियों का पता लगाकर उनमें सुधार हेतु सुझाव प्रदान किये जाते हैं।

5. विद्यालय की अन्तःक्रिया में सुधार करना— पर्यवेक्षण विद्यालय क्रियाओं का केन्द्र माना जाता है। प्रत्येक कार्य हेतु इसकी नितान्त आवश्यकता होती है। इस सम्बन्ध में **रेम्सीयर** का विचार है कि— "पर्यवेक्षण विद्यालय प्रकिया का गत्यात्मक रूप लिये हुए है। क्या होना चाहिए तथा क्या है? इसमें कौन-कौन-सी कमियाँ हैं? इसका संकेत केवल शैक्षिक पर्यवेक्षण ही प्रदान करता है।"

6. व्यावसायिक समस्याओं का निराकरण— विद्यालयों में शिक्षकों की नियुक्ति के उपरान्त उन्हें अनेक सामाजिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। उत्तम पर्यवेक्षण इन सभी समस्याओं के निराकरण में सक्षम होता है।

7. नवीन शिक्षण विधियों व सामग्री के विकास हेतु— शिक्षण के अन्तर्गत नवीन विधियाँ, प्रविधियाँ तथा सहायक सामग्री हेतु पर्यवेक्षण की अत्यन्त आवश्यकता होती है। पर्यवेक्षण द्वारा नये-नये उपकरणों के प्रयोग पर बल दिया जाता है ताकि शिक्षण को प्रभावशाली बनाया जा सके।

प्रश्न 16. शैक्षिक प्रशासन में स्थानीय निकायों की भूमिका को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर– स्थानीय निकायों का सम्बन्ध मुख्यत: प्राथमिक विद्यालयों से है। माध्यमिक या उच्च शिक्षा सम्बन्धी उत्तरदायित्व इन निकायों पर बहुत कम मात्रा में है। देश भर में माध्यमिक विद्यालयों का 25 प्रतिशत से भी कम इन संस्थाओं के अधीन है। उच्च शिक्षा में इसका योगदान बहुत ही कम है।

स्थानीय संस्थाएँ अपने शिक्षा विभाग द्वारा शिक्षा का नियन्त्रण करती हैं। ये शिक्षा-विभाग विद्यालयों को आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं तथा उनकी प्रबन्ध सम्बन्धी समस्याओं का समाधान करते हैं तथा प्राथमिक विद्यालय के विकास में विशेष योगदान देते हैं। इन्हीं के द्वारा अनेक प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना की गयी है। यह उन विद्यालयों को भी, जो सरकारी नहीं होते आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं। ये संस्थाएँ प्राय: विद्यालयों के निरीक्षण एवं प्रबन्ध के लिए स्वयं अपने ही पदाधिकारियों की नियुक्ति करती हैं। प्राथमिक विद्यालय प्राय: स्थानीय संस्थाओं द्वारा व्यक्तिगत रूप से स्थापित किये जाते हैं, अतएव उत्तरप्रदेश में सन् 1962 से प्राथमिक शिक्षा का उत्तरदायित्व क्षेत्र समितियों को दे दिया गया है। जिला परिषद अपनी आय का एक निश्चित भाग प्राथमिक शिक्षा पर व्यय करती है। राज्य सरकार भी जिला-परिषदों को शिक्षा के लिए अनुदान देती है।

नये ढाँचे के अनुसार जिला प्रमुख को उपजिला-विद्यालय निरीक्षक एवं सहायक उपजिला विद्यालय निरीक्षक शिक्षा सम्बन्धी परिषद के उत्तरदायित्व के निर्वाह में सहायता देते हैं।

जिला स्तर से नीचे प्रत्येक ब्लाक में पंचायत समिति होती है। यह समिति एक ब्लाक प्रमुख जो राज्य का अधिकारी नहीं होता है और ब्लाक विकास अधिकारी के द्वारा कार्य करती है। प्राथमिक शिक्षा सम्बन्धी सब प्रशासन अधिकार अब इस ब्लाक समिति को स्थानान्तरित कर दिये गये हैं।

प्रश्न 17. शिक्षा में प्रबन्धन की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर– शिक्षा में प्रबन्धन की अवधारणा (शैक्षिक प्रबन्धन)

शिक्षा में प्रबन्धन की अवधारणा अत्यन्त नवोदित है। यह इक्कीसवीं सदी की नूतन विचारधारा है। इसके पूर्व शिक्षा में 'प्रबन्धन' नामक शब्दावली खोजने से भी नहीं मिलती। शायद प्रबन्धन के लिए विद्यालय प्रशासन, संगठन का प्रयोग किया जाता रहा है। वस्तुत: शिक्षा प्रक्रिया के संचालन में अनेक मानवीय संसाधन (शिक्षक, कर्मचारी, प्राचार्य, प्रबन्धक, अधिकारी) तथा भौतिक संसाधन (भूमि, भवन, उपकरण, फर्नीचर आदि) का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। इन सबके सम्मिलन से ही शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति की रूपरेखा बनती है। पाठ्यचर्या, शिक्षण विधि का निर्धारण किया जाता है। शिक्षण में प्रबन्धन से तात्पर्य शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति अथवा शैक्षिक नीतियों के क्रियान्वयन के लिए शिक्षा संस्था में उपलब्ध मानवीय एवं भौतिक संसाधनों के युक्तिपूर्ण उपयोग से लगाया जाता है।

प्राय: लोग प्रबन्धन, प्रशासन तथा संगठन को समानार्थी रूप से प्रयुक्त करते हैं, जबकि प्रबन्धन से तात्पर्य उन कार्यकारी क्रिया-कलापों से है जिसके माध्यम से प्रशासक अपनी नीतियों को कार्यान्वित करता है। प्रशासन से आशय मानवीय तथा भौतिक संसाधनों को प्रभावपूर्ण ढंग से उपयोग करके संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति से होता है। संगठन से तात्पर्य

किसी विशिष्ट उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए एकत्रित किये गये व्यक्तियों के समूह से लगाया जाता है। अतः स्पष्ट है प्रशासन एवं संगठन की अपेक्षा प्रबन्धन व्यापक होता है। शिक्षा प्रबन्ध शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उपलब्ध भौतिक मानवीय संसाधनों एवं प्रयासों का समन्वय करके उन्हें क्रियाशील बनाने से सम्बन्धित होता है। शैक्षिक प्रबन्धन में अनेक मूलतत्त्व सम्मिलित होते हैं, जैसे— निर्णय, नियोजन, संगठन, सम्प्रेषण, निर्देशन समन्वय, प्रतिवेदन, आय-व्यय तथा मूल्यांकन आदि।

प्रश्न 18. विद्यालय में चिकित्सीय परीक्षण की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए।

उत्तर— बालक अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास तभी कर सकता है जबकि उसका स्वास्थ्य उत्तम हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक विद्यालय में एक चिकित्सालय का प्रबन्ध हो किन्तु भारत ऐसे देश के लिए यह कार्य बड़ा कठिन है। इस काम को करने के लिए कई विद्यालय मिलकर एक सामान्य 'विद्यालय-चिकित्सालय' की स्थापना करें जिसमें एक डाक्टर, कम्पाउण्डर तथा एक नर्स का प्रबन्ध हो। इसका सम्बन्ध सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग से होना चाहिए जो संक्रामक रोगों की रोक-थाम तथा अन्य स्वास्थ्य सम्बन्धी सहायता कर सकता है। अतः इस डाक्टरी निरीक्षण की योजना को समुचित बनाने के लिए निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए—

1. विद्यालय में डाक्टरी परीक्षा— डाक्टरों का यह कर्त्तव्य है कि वह विद्यालय के भवन की स्वच्छता का परीक्षण, कक्षाओं में वायु तथा प्रकाश के प्रबन्ध की व्यवस्था तथा फर्नीचर की कैसी व्यवस्था है, इन सबका समुचित परीक्षण करे तथा उसके द्वारा बतायी हुई कमियों को पूरा किया जाय जिससे छात्रों का स्वास्थ्य अच्छा बन सके।

2. छात्रों के स्वास्थ्य का निरीक्षण— विद्यालयों में प्रत्येक छात्रों के स्वास्थ्य के प्रारम्भ में ही निरीक्षण करना चाहिए। छात्र की लम्बाई, भार, वक्ष, नाक, कान, आँख, दाँत, गला, हृदय, फेफड़ा आदि का निरीक्षण करभा चाहिए। छात्रों के स्वास्थ्य के समुचित विकास करने के लिए कम से कम चार बार डाक्टरी निरीक्षण होना चाहिए, जिसका वर्णन निम्नलिखित है—

(क) प्रथम परीक्षण— छात्र का प्रथम परीक्षण उस समय करना चाहिए, जब बालक का विद्यालय में प्रवेश हो। यह निरीक्षण अभिभावकों की उपस्थिति में होना चाहिए। इसमें बालकों के स्वास्थ्य की कमियाँ या रोग, शारीरिक दोष तथा अस्वच्छता सम्बन्धी जानकारी हो सके। उन सबका विवरण अभिभावकों को दे देना चाहिए जिससे वे लोग भी सावधान हो जाएँ तथा दूसरे डाक्टरों की सहायता ले सकें।

(ख) दूसरी परीक्षा— यह परीक्षा उस समय ली जाय जब बालक शिशुकाल से बढ़कर बाल्यावस्था में प्रवेश करता है। इस समय का निरीक्षण अध्यापकों के सम्मुख होना चाहिए। इस समय शरीर के सभी अंगों का निरीक्षण किया जाय।

(ग) तीसरी परीक्षा— यह परीक्षण उस समय हो जब बालक किशोरावस्था में प्रवेश करता है। इस समय यह जानकारी प्राप्त की जाय कि छात्र के स्वास्थ्य में कोई परिवर्तन हुआ अथवा नहीं और यदि कोई शारीरिक दोष पाया जाय तो अभिभावकों को सूचित कर देना चाहिए।

(घ) चौथी परीक्षा— यह परीक्षण छात्रों के विद्यालय छोड़ते समय होना चाहिए। इस समय जानने की चेष्टा की जाय कि बालक के स्वास्थ्य पर विद्यालय का क्या प्रभाव पड़ा? शारीरिक कार्य कितना करने की क्षमता रखता है? तथा उसके आधार पर उसके व्यवसाय के विषय पर भी ध्यान दिया जाय।

3. डाक्टरी परीक्षण का लेखा— विद्यालय का डाक्टरी निरीक्षण तभी सफल हो सकता है, जब डाक्टरी निरीक्षण के लेखा को रखा जाय। इस लेखा की एक प्रति अभिभावकों के पास भेजनी चाहिए और एक प्रति विद्यालय में रखी जाय।

डाक्टरी परीक्षण के सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बातें— उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी हैं, जिन पर ध्यान देना आवश्यक है। वे निम्नलिखित हैं—

(i) डाक्टरी निरीक्षण विद्यालय के प्रांगण में होना चाहिए।

(ii) डाक्टरी परीक्षण से जिन रोगों का पता चल जाय, उसकी सूचना अभिभावकों को देनी चाहिए। यदि छात्र निर्धन है तो विद्यालय ही उसके रोगों का उपचार करवाये।

(iii) विभिन्न रोगों के उपचार के लिए सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग की सहायता लेनी चाहिए।

(iv) डाक्टरी परीक्षण दिखावटी न होकर वास्तविक ढंग का होना चाहिए।

(v) डाक्टरी निरीक्षण से जिस रोग का पता चल जाय उसका शीघ्र उपचार करवाया जाय।

प्रश्न 19. योग करते समय कुछ प्रमुख सावधानियाँ बताइए।

उत्तर— योगासन सम्बन्धी प्रमुख बातें अथवा नियम (सावधानियाँ)

योगासन भारत की एक प्राचीन पद्धति है। योगासन द्वारा मन को वश में किया जाता है, क्योंकि मन को वश में करने हेतु योगासन से बढ़कर कोई अन्य उपाय नहीं हो सकता। योगासन करते समय बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं जिन्हें ध्यान में रखना अति आवश्यक है। ये बातें निम्नलिखित हैं—

1. योगासन करने के लिए सुबह का समय उपयुक्त होता है। शाम का समय अधिक लाभकारी नहीं होता है। इसलिए योगासन सुबह करना चाहिए।
2. योगासन करने के तुरन्त बाद नहाना नहीं चाहिए।
3. योगासन करने से पहले शौच आदि से निवृत्त हो जाना चाहिए, यदि हो सके तो स्नान भी कर लेना चाहिए।
4. योगासन एकान्त स्थान में करना अधिक अच्छा होता है। यह स्थान खुला हुआ तथा हवादार होना चाहिए। वहाँ धूल, मिट्टी, धुआँ एवं शोरगुल नहीं होना चाहिए।
5. योगासन करने से पूर्व जमीन पर चटाई, दरी, कम्बल अथवा चादर बिछा लेनी चाहिए। जमीन समतल होनी चाहिए, क्योंकि कंकरीली या ऊबड़-खाबड़ जमीन पर योगासन करने से शरीर को हानि उठानी पड़ सकती है।
6. योगासन करते समय शरीर पर कम से कम वस्त्र धारण करने चाहिए जो ढीले तथा हल्के हों।

7. बुखार से ग्रसित व्यक्ति, हृदय रोगी, रक्तचाप के रोगी तथा गर्भवती स्त्री व योगासन कदापि नहीं करना चाहिए।
8. थकान होने पर या भूख लगने पर, दु:खी या चिड़चिड़े होने की स्थिति में योगास नहीं करना चाहिए।
9. योगासन एकाग्रचित होकर और पूरे मनोयोग के साथ करना चाहिए।
10. प्रत्येक योगासन करने के बाद शवासन करना शरीर को राहत पहुँचाता है।
11. यदि मन शान्त है, चित्त स्थिर है तो योगासन करने का तत्काल लाभ प्राप्त होता है
12. प्रत्येक योगासन का अभ्यास धीरे-धीरे करना चाहिए।
13. योगासन करने के दो घण्टे के बाद ही भोजन या गर्म दूध का सेवन करना चाहिए
14. योगासन से ज्यादा से ज्यादा लाभ प्राप्त हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि म में ऐसा अनुभव हो कि चुस्ती, फुर्ती, उत्साह, साहस, सहनशीलता, कार्यकुशल आदि का संचार बना है।

प्रश्न 20. मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति के प्रमुख लक्षण बताइए।

उत्तर— सुगठित शरीर, समाज में मान-सम्मान, आर्थिक रूप से सम्पन्नता आदि मानसि रूप से स्वस्थ व्यक्ति के लक्षण नहीं कहे जा सकते। यद्यपि ये चीजें अच्छे मानसिक स्वास्थ के लिए महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु इनसे सम्पन्न व्यक्ति मानसिक रूप से स्वस्थ हो। ऐसा नहीं क जा सकता, क्योंकि उन्हें नाना प्रकार की चिन्ताओं, दु:खों और मानसिक द्वन्द्वों का साम करना पड़ता है। वे अपने संवेगों और इच्छाओं आदि पर नियन्त्रण नहीं रख पाते और विभि मानसिक विकारों के शिकार हो जाते हैं।

मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति के निम्नलिखित प्रमुख लक्षण प्रस्तुत किये जाते हैं-

1. मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति में नवीन सामाजिक परिस्थितियों के साथ शीघ्र समायोजन स्थापित कर लेने की शक्ति निहित होती है।
2. वह अपने लक्ष्य की पूर्ति में सफलता प्राप्त करता है।
3. उसका व्यक्तित्व सन्तुलित एवं सर्वांगीण विकास पूर्ण होता है।
4. वह अपने व्यवसाय से सन्तुष्ट रहता है।
5. उनकी इच्छाशक्ति दृढ़ होती है और समस्त कार्य आत्मविश्वास के साथ करते
6. उसमें प्रचुर मात्रा में सामाजिकता की भावना दिखाई पड़ती है।
7. मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति अपनी इच्छाशक्ति और संवेगों को सुनियन्ि रखता है।
8. वह अपने समाज तथा समुदाय के नियमों, रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं के अनु ही कार्य करता है।
9. उसमें निराशा, मानसिक द्वन्द्व और भावना ग्रन्थियों आदि की प्रचुरता नहीं होत
10. वह जीवन के विभिन्न पहलुओं के प्रति स्वस्थ मनोधारणा रखता है।
11. वह स्थिर बुद्धि होता है, संवेगों पर नियन्त्रण रखता है और सन्तोषी होता है।

प्रश्न 21. विद्यालय में मध्याह्न भोजन के महत्त्व को बताइए।

उत्तर— हमारे देश के शिक्षालयों में विभिन्न आर्थिक स्तरों के बालक शिक्षा प्राप्त करते हैं। छात्रों की संख्या का बहुत थोड़ा भाग अपने घरों पर पौष्टिक भोजन प्राप्त कर पाता है। अधिकांश छात्रों को उपयुक्त भोजन की प्राप्ति नहीं हो पाती। इसका प्रमुख कारण उनके माता-पिता की गरीबी एवं अशिक्षा है। अशिक्षा को इस वजह से मुख्य कारण कहा गया है कि हमारे देश की अधिकांश जनता ग्रामों में रहती है और उनका मुख्य पेशा कृषि है। वे अशिक्षित होने के कारण सन्तुलित भोजन के महत्त्व को नहीं जान पाते। हरी सब्जियों का सन्तुलित भोजन में बहुत महत्त्व है। ग्रामीण लोग भूमि एवं अन्य साधनों के होते हुए भी अपने यहाँ हरी सब्जियाँ उत्पन्न नहीं कर पाते और जब कभी वे पास के बाजार में गये, तब ही उनके यहाँ सब्जी पक पाती होगी। वे यद्यपि इसका उत्पादन थोड़ी-सी जमीन में कर सकते हैं, जोकि उनके परिवार के लिए बहुत होगी और उसके द्वारा सन्तुलित भोजन के आवश्यक तत्त्वों की पर्याप्त मात्रा में प्राप्ति कर सकते हैं। दूसरे उनके यहाँ गाय-भैंसें होती हैं परन्तु फिर भी उनको दूध, घी यहाँ तक कि मट्ठा भी प्राप्त नहीं हो पाता। इसका मुख्य कारण अशिक्षा है। वे अपने दूध तथा घी को बाज़ार में बेच देते हैं।

यह सत्य है कि वे ऐसा गरीबी के कारण ही करते हैं। वे ऐसा अपनी सामाजिक कुरीतियों की विवशतापूर्ण पूर्ति के लिए भी करते हैं जो उनके जीवन की आधारशिला बनी हुई है। यदि वे शिक्षित होंगे तो वे इन पर अपनी शक्ति से अधिक खर्चा न करके अपने बालकों के भावी जीवन के निर्माण के लिए सुविधाएँ प्रदान कर सकेंगे। छात्रों के पौष्टिक भोजन की कमी को दूर करने के लिए शिक्षालयों में दोपहर के भोजन की व्यवस्था करना आवश्यक है। अपर्याप्त भोजन अपूर्ण पोषण का मुख्य कारण है। छात्रों के विकास को अवरुद्ध होने तथा राष्ट्र को शक्तिहीन होने से बचाने के लिए शिक्षालयों में मध्याह्न भोजन की व्यवस्था का होना आवश्यक है, क्योंकि भूखे पेट तो ईश्वर का भजन भी नहीं हो पाता है।

शिक्षालय के मध्याह्न भोजन का महत्त्व इसलिए भी है, क्योंकि इसके द्वारा उनका उचित रूप से पोषण किया जा सकता है। उसको घर के भोजन में जिन तत्त्वों की कमी रहती है, उनकी इसके द्वारा पूर्ति की जा सकती है। इस भोजन की प्राप्ति से वे शिक्षा का पूर्ण लाभ उठा सकेंगे। इसके अतिरिक्त उनमें इस भोजन के द्वारा रोग-निवारण क्षमता को भी उत्पन्न किया जा सकता है।

प्रश्न 22. पाठ्यक्रम क्रियाओं में स्थानीय प्रशासन (प्रधानाचार्य एवं शिक्षक) का क्या स्थान है ?

उत्तर—छात्र-क्रियाओं के कार्यक्रम को संगठित करने से पूर्व प्रधानाध्यापक को अपने शिक्षक-वर्ग की योग्यताओं एवं क्षमताओं को जानना चाहिए। इस कार्यक्रम की सफलता या असफलता अधिकांशत: शिक्षक-वर्ग के दृष्टिकोण एवं उत्साह पर निर्भर है। वे छात्र-छात्राओं से सहायता व परामर्श ही प्राप्त नहीं करते वरन् वे उनसे प्रेरणा पाकर अपने सम्भाव्य गुणों का विकास भी करते हैं। अत: प्रधानाध्यापक, शिक्षक तथा छात्रों का आपसी सहयोग आवश्यक है।

प्रधानाध्यापक



पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं का संचालन (शिक्षक वर्ग में से)



योजना समिति (इसमें शिक्षक-छात्र दोनों के सदस्य)



छात्र परिषद्

इसके अन्तर्गत छात्रों के सदस्य विभिन्न क्रियाओं के संगठनकर्त्ता हों।

इन विभिन्न क्रियाओं के संगठन में निम्न पदाधिकारी—

1. परामर्शदाता (शिक्षक वर्ग से)
2. अधिकारी—प्रधान, उपप्रधान, सेक्रेटरी तथा छात्रों से निर्वाचित अधिकारी।
3. सदस्य।

प्रश्न 23. विद्यालय-अभिलेखों की एक सूची बनाइए।

उत्तर— विद्यालय एक स्थायी संस्था होती है। अन्य स्थायी संस्थाओं की भ विद्यालय की सुव्यवस्था के लिए अभिलेखों की आवश्यकता होती हैं। लिखित अभिले विद्यालय की व्यवस्था को प्रगतिशील बनाते हैं और विद्यालय के स्वरूप को निश्चित प्रदान करते हैं। इससे विश्वसनीयता के वातावरण का निर्माण होता है। विद्यालय के प्रम् अभिलेख निम्नलिखित हैं—

1. उपस्थिति पंजिका
2. अध्यापकों की उपस्थिति पंजिका
3. प्रवेश तथा वापसी पंजिका
4. वेतन पंजिका
5. कटिञ्जेन्सी पंजिका
6. पत्र व्यवहार रजिस्टर
7. सम्पत्ति रजिस्टर
8. रोजनामचा या लॉग बुक
9. दर्शकों की पुस्तक
10. आँकड़ों का रजिस्टर
11. निजी शिक्षण रजिस्टर
12. आचरण रजिस्टर
13. दण्ड रजिस्टर
14. कैश बुक
15. वाचनालय रजिस्टर आदि।

विद्यालयों के कर्मचारियों का लेखा-जोखा, उनके उत्तरदायित्व का वितरण, उन प्रयास या सफलता, विद्यालय के आय-व्यय, उनके स्रोत तथा छात्रों से सम्बन्धित बातों व समावेश इन अभिलेखों में होता है। इनसे विश्वसनीयता का वातावरण निर्मित होता है त अव्यवस्था, अशान्ति तथा मतभेद पैदा करने वाले उनके विघटनकारी प्रयासों को प्रोत्साह नहीं मिलता।

प्रश्न 24. पर्यावरण संरक्षण के राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास व वर्णन कीजिए।

उत्तर— **पर्यावरण संरक्षण के राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास**

भारत में भी पर्यावरण की बिगड़ती स्थिति को देखकर अनेक सरकारी तथा गैर-सरकार संगठनों ने पर्यावरण प्रबन्ध एवं संरक्षण के लिए चिन्ता व्यक्त की है। स्वयं पर्यावरण मन्त्रालय

भारत सरकार ने राष्ट्रीय पर्यावरण जागरूकता अभियान चला रखा है तथा पर्यावरण प्रबन्ध एवं संरक्षण के लिए अनेक समितियों एवं परिषदों की स्थापना की है। इसके अतिरिक्त भारत सरकार ने प्रदूषण नियन्त्रण संरक्षण के उद्देश्य से कुछ महत्त्वपूर्ण कानून भी बनाये हैं, जिनका विवरण निम्नवत् है–

1. पर्यावरण नियोजन एवं सहयोग राष्ट्रीय समिति, 1972
2. राज्य प्रदूषण नियन्त्रण परिषदों की स्थापना, 1976
3. कीटनाशक अधिनियम, 1968
4. वन्य जीवन संरक्षण अधिनियम, 1972
5. जल प्रदूषण निरोधन एवं नियन्त्रण अधिनियम, 1974
6. जल प्रदूषण कर अधिनियम, 1978
7. वायु प्रदूषण निरोधन एवं नियन्त्रण अधिनियम, 1981
8. केन्द्र एवं राज्य सरकारों में वन पर्यावरण मन्त्रालयों की स्थापना।
9. पर्यावरण विभाग की स्थापना, 1980।
10. पर्यावरण विभाग के अन्तर्गत भारतीय वनस्पति सर्वेक्षण विभाग, भारतीय प्राणि-सर्वेक्षण विभाग तथा राष्ट्रीय प्राकृतिक इतिहास संग्रहालय भी पर्यावरण प्रबन्ध एवं संरक्षण के क्षेत्र में कार्यरत हैं।

पर्यावरण संरक्षण के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास– वर्तमान में पर्यावरण प्रदूषण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की समस्या बन चुका है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रदूषण नियंत्रण एवं पर्यावरण संरक्षण के लिए व्यापक प्रयास किये गये हैं। अनेक वैज्ञानिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों ने पर्यावरण प्रबन्ध एवं क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान किये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पर्यावरण प्रबन्ध एवं संरक्षण के लिए अनेक संगठन कार्यरत हैं। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण संगठन अन्तर्राष्ट्रीय जीव वैज्ञानिक कार्यक्रम, अन्तर्राष्ट्रीय जल दशक, अन्तर्राष्ट्रीय जल कार्यक्रम, मानव एवं जैवमण्डल कार्यक्रम, पर्यावरण समस्याओं पर वैज्ञानिक समिति तथा यूनेप, मांट्रियाल प्रोटोकॉल, वियना सम्मेलन आदि हैं। इन संस्थाओं के प्रयास से पर्यावरण संरक्षण के प्रति अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बड़ी जागरूकता आयी है।

प्रश्न 25. 'शिक्षा-संहिता' की आवश्यकता एवं महत्त्व की विवेचना कीजिए।

उत्तर– शिक्षा संहिताएँ प्रारम्भ में नामकरण व निर्वचन का वर्णन करती हैं। प्रत्येक शिक्षा संहिता नामकरण के पश्चात् यह स्पष्ट कर देती है कि यह संहिता किस क्षेत्र में तथा किन विद्यालयों के ऊपर लागू होगी तथा इसमें कोई परिवर्तन किस प्रकार लाया जायेगा। इसके निर्वचन के सम्बन्ध में क्या दर लिये जायेंगे। शिक्षा संहिताएँ निम्नलिखित नियमों का वर्णन करती हैं–

(1) सरकार की स्वीकृति से शिक्षा निदेशक स्थायी आदेश के रूप में इस संहिता से सम्बन्धित कोई भी निर्णय अथवा निर्वचन जो उन्हें आवश्यक प्रतीत हो जारी कर सकेंगे तथा वे स्थायी आदेश भी संहिता के समान प्रभावशाली होंगे।

(2) सरकार की स्वीकृति से शिक्षा निदेशक किसी विशेष क्षेत्र में स्थित संस्थाओं या संस्था के लिए किसी भी नियम को लागू करने से निलम्बित कर सकेंगे।

(3) जब तक प्रसंग से कोई दूसरा अभिप्राय न निकले। इस संहिता के नियम–

(अ) सार्वजनिक प्रबन्ध के अन्तर्गत सभी संस्थाओं, तथा

(ब) सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त तथा अनुदान प्रदत्त निजी क्षेत्र के समस्त शि संस्थाओं पर लागू होंगे।

उपर्युक्त प्रकार के नियमों के अतिरिक्त प्रत्येक शिक्षा संहिता विभिन्न परिभाषाएँ स्प रूप से प्रस्तुत करती है। इन परिभाषाओं द्वारा शिक्षा विभाग मान्यता प्राप्त विद्यालय तथा अ प्रकार के विद्यालयों से क्या तात्पर्य है– स्पष्ट किया जाता है तथा शिक्षा विभाग के विभि अफ़सरों के पदों से क्या अभिप्राय है– यह भी स्पष्ट किया जाता है।

शिक्षा संहिताओं में विभिन्न नियम दिये होते हैं। इन नियमों के अतिरिक्त शि संहिताओं में कुछ और नियम भी होते हैं जो विभागीय परीक्षाओं, संस्कृत एवं आयुर्वेदि शिक्षा, स्वास्थ्य, शारीरिक शिक्षा तथा अन्य सहगामी प्रवृत्तियों, विद्यालय भवन तथा फर्नी वैयक्तिक अध्यापन, सार्वजनिक परीक्षाओं में बैठक की अनुज्ञा, रजिस्टर एवं अभिलेख व्यवहार की प्रणाली, प्रशासनिक प्रतिवेदन इत्यादि के सम्बन्ध में होते हैं। संस्था प्रधानों अध्यापक वर्ग के लिए निर्देशों का वर्णन भी शिक्षा संहिताओं में होता है। इसके अति शिक्षा प्रयोजनार्थ व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक सहायता नियमों का भी उल्लेख होता है।

प्रत्येक शिक्षा संहिता में विभिन्न प्रकार के प्रपत्र, प्रार्थना पत्र इत्यादि के रूपों का व होता हैं। विभिन्न प्रपत्रों की भाषा क्या होनी चाहिए, इसका उदाहरण भी दिया जाता है।

स्पष्टत: शिक्षा का विषय राज्य सरकार के प्रशासन के अन्तर्गत आता है। इस का शिक्षा के प्रबन्ध एवं प्रशासन के सम्बन्ध में राज्य सरकार अनेक नियम बनाती है जो राज्य व शिक्षा संहिता में जनता की जानकारी के लिए स्पष्ट रूप से वर्णन किये जाते हैं। वास्तव राज्य का सम्पूर्ण शैक्षिक प्रशासन इस संहिता के अनुरूप ही होता है। यही कारण है कि जो शिक्षक विद्यालय में नियुक्त हो उन्हें राज्य की शिक्षा–संहिता का ज्ञान अवश्य होना चाहिए।

संक्षेप में शिक्षा संहिता की महत्ता एवं आवश्यकता उसके द्वारा लिखित नियमों में है, उ शिक्षा विभाग के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

प्रश्न 26. राज्य विश्वविद्यालय के बारे में वर्णन कीजिए।

उत्तर– राज्य विश्वविद्यालय (State Universities)– जिस प्रकार से केन सरकार के द्वारा स्थापित अनेक विश्वविद्यालयों के द्वारा उच्च शिक्षा व अनुसंधान के क्षेत्र म महत्त्वपूर्ण योगदान किया जा रहा है, ठीक उसी प्रकार राज्य सरकारों द्वारा भी अपने-अप राज्यों में अनेक विश्वविद्यालय स्थापित किये गये हैं। वस्तुत: भारतवर्ष में विश्वविद्यालय की स्थापना संसद के द्वारा पारित अधिनियम से अलग राज्य विधान मण्डल द्वारा पारित अधिनियम के द्वारा की जा सकती है। उच्च शिक्षा क्षेत्र में शिक्षण अनुसंधान व प्रसार कार्य को बढ़ाने के लिए राज्यों के द्वारा अनेक विश्वविद्यालय स्थापित किये गये हैं। विगत कुछ वर्षों में अनेक निजी विश्वविद्यालय भी खोले गये हैं, जिनका नियंत्रण व प्रशासन राज्यों के द्वारा बनाये मानकों के अनुरूप निजी संस्थाओं के द्वारा किया जाता है। उत्तर प्रदेश में राज्य सरकार के उच्च शिक्षा विभाग के नियंत्रणाधीन 22 राज्य विश्वविद्यालय, 1 मुक्त विश्वविद्यालय, 10 मानित विश्वविद्यालय, 17 निजी विश्वविद्यालय के साथ-साथ लगभग तीन हजार महाविद्यालय

तथा कृषि विश्वविद्यालय क्रमशः कार्य कर रहे हैं। इनमें से अधिकांश विश्वविद्यालय सामान्य प्रकृति के कार्यक्रमों का संचालन करते हैं, जबकि कुछ विश्वविद्यालय विशिष्ट प्रकृति जैसे– प्रौद्योगिकी शिक्षा, चिकित्सा शिक्षा, विधि शिक्षा, मुक्त शिक्षा, कृषि शिक्षा आदि क्षेत्रों में विविध कार्यक्रमों का संचालन कर रहे हैं। यद्यपि उच्च शिक्षा में अधिकांश छात्र महाविद्यालयों में अध्ययनरत रहते हैं। वहीं पर सीमित संख्या में कुछ छात्र विश्वविद्यालयों के शिक्षण विभागों में भी अध्ययन करते हैं। महाविद्यालयों को सरकारी महाविद्यालयों, सहायता प्राप्त महाविद्यालयों एवं स्व-वित्त पोषित महाविद्यालयों में बाँटा जा सकता है। महाविद्यालयों तथा शिक्षण विभागों में दी जा रही शिक्षा का समन्वय गुणवत्ता नियंत्रण का कार्य विश्वविद्यालयों के द्वारा किया जाता है। लगभग सभी विश्वविद्यालयों का प्रधान कार्यपालक निकाय कार्य परिषद् तथा मुख्य शैक्षणिक निकाय विद्या परिषद् होते हैं। इसके अतिरिक्त प्रवेश समिति, परीक्षा समिति व वित्त समिति एवं विभिन्न संकाय परिषद् व अध्ययन बोर्ड होते हैं, जो अपने-अपने कार्यों का निर्वहन करते हुए विश्वविद्यालय व महाविद्यालयों में दी जा रही उच्च शिक्षा व अनुसंधान का नियोजन, कार्यान्वयन व समन्वयन करते हैं।

प्रश्न 27. एच. आई. वी./एड्स (HIV/AIDS) पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर– एच. आई. वी./एड्स (HIV/AIDS)– एड्स वर्तमान समय की एक भयंकर एवं असाध्य महामारी के रूप में सामने उभरकर आयी है। एड्स का पूरा नाम एक्वायर्ड इम्यूनो डिफिसिएन्शी सिन्ड्रोम है, जो कि एच. आई. वी. नामक वायरस या विषाणु से फैलता है। इसके द्वारा व्यक्ति की प्रतिरोधक क्षमता कम हो जाती है। अतः एड्स उस स्थिति को कहते हैं, जिसमें किसी व्यक्ति की बीमारी से लड़ने की प्रतिरोधक क्षमता कम या समाप्त हो जाती है, जिसके फलस्वरूप कोई भी संक्रामक बीमारी जानलेवा साबित हो सकती है। एच. आई. वी. से संक्रमित व्यक्ति एच. आई. वी. पॉजिटिव कहलाता है। एच. आई. वी. का संक्रमण मुख्य रूप से श्वेत रक्त कोशिका पर होता है। श्वेत रक्त कण ही शरीर की प्रतिरोधक क्षमता के लिए उत्तरदायी होते हैं। धीरे-धीरे यह विषाणु श्वेत रक्त कोशिकाओं को नष्ट कर देते हैं, जिससे व्यक्ति की प्रतिरोधक क्षमता समाप्त हो जाती है एवं व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है।

फैलने के कारण– एच. आई. वी. के संक्रमण के निम्न कारण हैं–

1. लगभग 80 प्रतिशत संक्रमण संक्रमित व्यक्ति से असुरक्षित यौन सम्बन्ध से फैलता है।
2. एच. आई. वी. संक्रमित रक्त चढ़ाने से।
3. एच. आई. वी. संक्रमित इंजेक्शन द्वारा।
4. एच. आई. वी. संक्रमित महिला से गर्भस्थ बच्चे को।
5. मादक दवाओं के इंजेक्शन से आदि।

एड्स के लक्षण– जैसा कि यह विदित है कि एड्स कोई रोग नहीं है, वरन् एच. आई. वी. संक्रमित व्यक्ति में बीमारियों से लड़ने की क्षमता धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है। एड्स रोगी में निम्न लक्षण देखे जाते हैं–

1. हाथ-पाँवों की गाँठों में सूजन।
2. बार-बार दस्त लगना।
3. अत्यधिक पसीना आना एवं अत्यधिक ठण्ड लगना।

4. मसूढ़ों में सूजन आ जाना।

5. थकान, कमजोरी एवं निरन्तर कई दिनों तक बुखार आना आदि।

एड्स की शुरुआत सर्वप्रथम मध्य अफ्रीका से हुई। यह माना जाता है कि मानव में यह रोग बन्दरों के माध्यम से फैला। अमेरिका में सन् 1981 में प्रथम एड्स रोगी की जानकारी हुई, जबकि भारत में 1986 में प्रथम एड्स रोगी के बारे में जानकारी हुई। प्रारम्भ में यहाँ एड्स रोगियों की संख्या बहुत ही कम थी तथा इसका विस्तार दक्षिण भारत में ही अधिक था। महिलाओं की तुलना में पुरुषों को यह रोग अधिक होता था। वर्तमान समय में पूरे देश में यह रोग तेजी के साथ फैल गया है एवं स्त्री-पुरुष, बच्चे सभी इसकी चपेट में आ गये हैं, जिसमें 50 प्रतिशत से अधिक संक्रमण नवयुवकों में देखने को मिल रहा है। ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा शहरी क्षेत्रों में यह रोग तेजी से फैल रहा है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार भारत में एड्स के फैलने की दर एक प्रतिशत प्रतिवर्ष है तथा अब तक 4 करोड़ 40 लाख से अधिक व्यक्ति एच. आई. वी. पाजिटिव पाये गये हैं।

रोकथाम के उपाय— एड्स के बारे में अभी भी आम लोगों में अनेक भ्रांतियाँ हैं यथा— एड्स रोगी को छूने, हाथ मिलाने, साथ में भोजन करने, एक ही तौलिया एवं कपड़े का उपयोग करने, साथ-साथ खेलने, प्यार/आलिंगन करने, बच्चों के चुम्बन, मच्छर एवं खटमल के काटने आदि से एड्स रोग फैल जाता है, जिसके कारण पीड़ित व्यक्ति अपने आपको परिवार एवं समाज से अलग-थलग महसूस करता है एवं उसमें रोगों से लड़ने की क्षमता और भी कम होती जाती है, जबकि यह रोग अधिकांशत: असुरक्षित यौन सम्बन्ध, संक्रमित रक्त चढ़ाने, एच. आई. वी. संक्रमित सुई का प्रयोग आदि से फैलता है। अत: एड्स की रोकथाम के लिए लोगों को असुरक्षित यौन सम्बन्धों से बचने, शुद्ध या संक्रमित रक्त का उपयोग करने, पैकेट बन्द सुई का उपयोग, नशीले पदार्थों के इंजेक्शन का उपयोग न करने आदि के लिए जागरूक करने की आवश्यकता है। इसके लिए विभिन्न जागरूकता कार्यक्रमों का आयोजन, प्रचार एवं प्रसार तथा शैक्षिक कार्यक्रमों के आयोजन, स्कूलों में सेक्स शिक्षा को प्रारम्भ करना आदि उपाय किये जा सकते हैं।

भारत जैसे देशों में जहाँ अधिकांश जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है एवं पुरुष नौकरी करने शहरों में जाते हैं या ट्रकों के ड्राइवर जो कई-कई दिनों तक अपने घर से दूर रहते हैं, वहाँ असुरक्षित यौन सम्बन्धों के द्वारा एच. आई. वी. संक्रमण अधिक मिलता है, जो फिर घर जाकर अपनी स्त्रियों को भी संक्रमित कर देते हैं, जिससे यह रोग औरतों एवं बच्चों में भी तेजी से फैलता जा रहा है। इसलिए इस रोग की रोकथाम के लिए देह-धन्धा करने वाली औरतों को जागरूक करने एवं सुरक्षित यौन सम्बन्ध बनाने के लिए प्रेरित करना चाहिए। वर्तमान समय में युवावर्ग में यह संक्रमण अधिक फैल रहा है, जिससे निकट भविष्य में स्थिति अत्यन्त विस्फोटक हो सकती है। अत: स्कूलों में यौन शिक्षा को प्रारम्भ किया जाये। 198[illegible] में भारत में एड्स की रोकथाम के लिए राष्ट्रीय एड्स समिति का गठन किया गया है। परन्तु बढ़ते संक्रमण की दर को देखते हुए राष्ट्रीय स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय के अधीन 1992 में राष्ट्रीय एड्स नियंत्रण संगठन की स्थापना की गयी, जो कि सम्पूर्ण देश में एड्स की रोकथाम के लिए कार्यरत है।

एड्स का पर्यावरण पर प्रभाव– एड्स, जो कि एक महामारी के रूप में धीरे-धीरे सम्पूर्ण विश्व में विशेष रूप से विकासशील देशों में तेजी के साथ फैलता जा रहा है, का कुप्रभाव पर्यावरण पर भी देखने को मिल रहा है। संक्रमित व्यक्ति की कार्यक्षमता कम होने से एवं बड़ी संख्या में मृत्यु के फलस्वरूप मानव संसाधन में कमी हो जायेगी। अनाथ बच्चों की संख्या में वृद्धि एवं गरीबी में वृद्धि हो जायेगी, कुशल कामगारों आदि की कमी के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के उत्पादों के उत्पादन एवं गुणवत्ता में कमी आ जायेगी। मृत्यु के पश्चांत् वन्य संसाधन एवं भूमि संसाधन पर दबाव अधिक बढ़ जायेगा। यथा– भारत में अधिकांश जनसंख्या हिन्दू धर्म की है एवं उनकी मृत्यु के पश्चात् अन्तिम क्रिया के लिए लकड़ी की आवश्यकता होती है, क्योंकि विद्युत शवदाह गृहों का उपयोग अभी बहुत ही कम मात्रा में किया जा रहा है। इसी प्रकार मुस्लिम एवं ईसाइयों में शवों को भूमि में गाड़ा जाता है। अत: अधिक मात्रा में मृत्यु से अधिक जमीन की आवश्यकता होगी, जिसका प्रभाव कृषि क्षेत्र एवं वन क्षेत्रों में कमी के रूप में देखने को मिलेगा। कृषि क्षेत्र एवं वन क्षेत्रों में कमी के शृंखलाबद्ध रूप से पर्यावरणीय प्रभाव सामने आते हैं।

प्रश्न 28. विद्यालय में अनुशासन का क्या महत्त्व है?

उत्तर– शिक्षा के क्षेत्र में अनुशासन से अभिप्राय आज्ञा मानने के साथ ही चरित्र निर्माण से है। आज्ञा मानना या व्यवस्था का अनुसरण करना आदि बालक के बाह्य आचरण के साथ ही अनुशासन का सम्बन्ध आत्मनियन्त्रण, चरित्र-निर्माण और उसके आन्तरिक विचारों से सम्बन्धित है।

शिक्षा में स्वतन्त्रता से अभिप्राय यह है कि बालक अपने ढंग से कार्य करके बिना किसी वाह्य बन्धन के अपना विकास करे। इसके साथ ही वह नियमों, सिद्धान्तों और व्यवस्थाओं के अधीन रहना भी सीखे।

ह्वाइटहेड के अनुसार– "एक आदर्शपूर्ण सुनियोजित शिक्षा का यह उद्देश्य होना चाहिए कि अनुशासन रखने में अधिक प्रभावशाली हो। दोनों सिद्धान्त– स्वतन्त्रता तथा अनुशासन, एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं, परन्तु इन दोनों का बालक के जीवन में ऐसा अनुकूलन होना चाहिए कि वे बालक के व्यक्तित्व के विकास में स्वाभाविक रूप से इधर-उधर होने वाली प्रवृत्तियों से मेल रखें।"

रसेल का कहना है– "उपयुक्त अनुशासन बाहरी अनिवार्यता से नहीं बनता, वरन् वह मन की आदतों से निर्मित होता है, जो स्वाभाविक रूप से वांछित क्रियाओं की ओर ले जाती है, न कि अवांछित क्रियाओं की ओर।"

अनुशासन का महत्त्व– व्यक्तिगत और सामाजिक दृष्टि से जीवन में अनुशासन का बड़ा महत्त्व है–

मानव अपनी शक्तियों का प्रयोग तब तक नहीं कर सकता, जब तक वह स्वयं अनुशासन में न रहे। शक्तियों के प्रयोग से व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है। विद्यालय में अध्यापक बालक की सक्रिय रखने के लिए उसे अनेकानेक समस्याओं या परिस्थितियों में उलझाता रहता है। बालक उन परिस्थितियों में उलझकर कुछ क्रियाएँ करता है। इन क्रियाओं के द्वारा वह जो अनुभव प्राप्त करता है। उससे उसके व्यक्तित्व के विकास में योग मिलता है।

बालक के व्यक्तित्व का विकास तब तक नहीं हो सकता, जब तक वह अनुशासित ढंग से कार्य नहीं करता।

अनुशासन ही विद्यालय का प्राण— सब कुछ रहने पर जैसे प्राण के बिना शरीर बेकार हो जाता है। वैसे ही सब कुछ रहने पर भी अनुशासन के बिना विद्यालय भी बेकार हो जाता है। अनुशासन खुद साधनों का सदुपयोग है। विद्यालय बालकों के विकास के लिए अनेकानेक साधनों को इकट्ठा करता है। छात्र उन साधनों का प्रयोग कर विकास करता है। उन साधनों का प्रयोग ही अनुशासन है। यदि बालक उन साधनों का ठीक से प्रयोग नहीं करेगा, तो वे सारे साधन निरर्थक हैं। अनुशासन से ही व्यक्ति और समाज अपनी शक्तियों का अभिप्रायों की सिद्धि के लिए सदुपयोग करते हैं और उन सब रुकावटों को संकल्प लेकर दूर करते हैं, जो उनके वैयक्तिक और सामाजिक विकास में रोड़ा अटकाती हैं।

अनुशासन एक सकारात्मक गुण है— अनुशासन के अन्तर्गत वे सभी बातें आती हैं, जो व्यक्ति को उसके व्यक्तिगत विकास के लिए तथा उसको सामाजिक विकास में अपना योग देने की क्षमता प्रदान करती है। *टी0 पी0 नन* ने लिखा है कि— "अनुशासन के अन्तर्गत वह शक्ति आती है, जिसके द्वारा दुष्प्रवृत्तियों को रोककर अव्यवस्था के स्थान पर व्यवस्था और कुशलता आती है तथा अपव्यय के स्थान पर सदुपयोग आता है।"

डीवी ने लिखा है— "अनुशासन शक्ति है और कार्य करने के लिए उपलब्ध साधनों का सदुपयोग। हमें क्या करना है, कैसे करना है तथा किन साधनों से करना है? यह जानना ही अनुशासन है।"

खण्ड— स : दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से आप क्या समझते हैं? इसके कार्यों की विवेचना कीजिए।

उत्तर— विश्वविद्यालय अनुदान आयोग

भारत सरकार द्वारा 1948 में नियुक्त 'विश्वविद्यालय शिक्षा-आयोग' के सुझाव के अनुसार 1953 ई. में 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' की स्थापना की गयी। 1956 में संसद द्वारा पारित अधिनियम द्वारा इसे वैधानिक संस्था स्वीकार कर लिया गया था। इस अधिनियम के अनुसार चेयरमैन तथा सचिव के अतिरिक्त 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' के 9 सदस्य होंगे। इसके 9 सदस्यों में से 3 सदस्य विश्वविद्यालयों के कुलपति, 4 प्रसिद्ध भारतीय शिक्षा-मर्मज्ञ एवं दो केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि होते हैं।

इस आयोग के कार्य निम्नलिखित हैं—

(1) विश्वविद्यालय-शिक्षा में सुधार करने एवं शिक्षण-स्तर को उच्च बनाने के लिए विश्वविद्यालयों को सलाह देना।

(2) विश्वविद्यालयों की आर्थिक स्थितियों की जाँच करना और केन्द्रीय सरकार द्वारा उनको सहायता अनुदान में दी जाने वाली धनराशि के सम्बन्ध में सुझाव देना।

(3) विश्वविद्यालय-शिक्षा के विस्तार एवं विकास से सम्बन्धित आवश्यक कार्यों को पूरा करना।

(4) विश्वविद्यालयों से उनकी परीक्षाओं, पाठ्यक्रमों, अनुसंधान कार्यों आदि के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त करना।

(5) विश्वविद्यालयों के लिए उपयुक्त समझी जाने वाली सूचनाओं को भारत तथा विदेशों से एकत्रित करके विश्वविद्यालयों को भेजना।

(6) विश्वविद्यालय तथा विविध सेवाओं के लिए प्रदान की गयी उपाधियों के सम्बन्ध में भारत सरकार तथा राज्य सरकारों को अपनी सलाह देना।

(7) भारत सरकार एवं विश्वविद्यालयों द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देना तथा उनकी शंकाओं का समाधान करना।

(8) भारतीय विश्वविद्यालयों में शिक्षा के स्तर में समन्वय रखने तथा विश्वविद्यालय शिक्षा से सम्बन्धित समस्याओं पर एक विशेषज्ञ संस्था के रूप में भारत सरकार को परामर्श देना।

(9) विश्वविद्यालयों को अपने कोष से दी जाने वाली धनराशि का वितरण करना तथा इस सम्बन्ध में अपनी नीति का निर्धारण करना।

(10) नवीन विश्वविद्यालयों की स्थापना एवं प्रचलित विश्वविद्यालयों के कार्य-क्षेत्र की वृद्धि के बारे में पूछे जाने पर अपना मत प्रकट करना।

वर्तमान में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग निम्नांकित उत्क्रमित क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रहा है—

(1) स्वायत्त कालेजों की स्थापना। अब तक 108 कालेजों की स्थापना कर चुका है।

(2) शिक्षकों के प्रबोधन के लिए शैक्षिक स्टॉफ कालेजों की स्थापना। इन कालेजों ने 30,684 अध्यापकों को शामिल करके अभी तक तक 900 प्रबोधन कार्यक्रम आयोजित किये हैं। साथ ही 46,276 शिक्षकों को शामिल करके सेवारत अध्यापकों के लिए 1897 पुनश्चर्या पाठ्यक्रम आयोजित किये हैं।

(3) **प्रवक्ताओं की नियुक्ति के लिए पात्रता—** आयोग ने लेक्चररशिप हेतु पात्रता निर्धारित करने या मानविकी व सामाजिक विज्ञान में जूनियर रिसर्च फैलोशिप प्रदान करने के लिए पात्रता परीक्षा आयोजित की। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा सी. एस. आई. आर. ने विज्ञान विषयों में इसी प्रकार की परीक्षाएँ आयोजित कीं।

(4) आयोग विजिटिंग प्रोफेसरों की नियुक्ति के लिए विश्वविद्यालयों को सहायता प्रदान करता है।

(5) सामान्य शिक्षा में अवर स्नातक पाठ्यक्रमों की पुन:संरचना की योजना लागू की गयी, जिससे पाठ्यक्रमों को पर्यावरण के प्रति और अधिक संगत तथा रोजगारोन्मुख बनाया जा सके। इन पाठ्यक्रमों को आधुनिक बनाने, इनकी पुन:संरचना करने तथा वैकल्पिक शैक्षणिक मॉडलों को विकसित करने के लिए कदम उठाये जा रहे हैं।

(6) आयोग ने विश्वविद्यालयों तथा कालेजों को कुछ विषयों में स्नातकोत्तर स्तर पर अतिरिक्त विषय आरम्भ करने के लिए संगणक सुविधाएँ स्वीकृत की हैं।

(7) आयोग उच्च अध्ययन के 41 केन्द्रों तथा विज्ञान, इंजीनियरिंग तथा प्रौद्योगिकी के विभिन्न विभागों को विशेष सहायता प्रदान कर रहा है।

(8) आयोग समग्र साक्षरता के कार्यान्वयन के लिए विश्वविद्यालयों को अपने प्रौढ़, सतत व विस्तार शिक्षा विभागों द्वारा सहायता प्रदान करता है।

(9) आयोग अल्पसंख्यक समुदायों में कमजोर वर्गों के लिए प्रतियोगी परीक्षाओं के वास्ते कोचिंग कक्षाओं के आयोजन में सहायता प्रदान करता है।

(10) विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने उच्चतर शिक्षा के लिए दिये गये समय का उपयोग करने तथा 'देशव्यापी कक्षा' शीर्षक से उच्चतर शिक्षा में दूरदर्शन पर कार्यक्रमों को प्रसारित कराने की पहल की है। इस समय आयोग विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा केन्द्रीय अंग्रेजी एवं विदेशी भाषा संस्थान (हैदराबाद) में स्थित शैक्षिक साधना अनुसंधान केन्द्रों को सहायता प्रदान कर रहा है।

(11) आयोग विश्वविद्यालयों व कालेजों में अनुसंधान के विकास के लिए विभिन्न विषयों में जूनियर अनुसंधान शिक्षावृत्तियाँ प्रदान करता है। उत्कृष्ट योग्यता वाले शिक्षकों को अनुसंधान तथा लेखन कार्य में प्रवृत्त करने के लिए विशिष्ट अवधि हेतु राष्ट्रीय शिक्षावृत्तियाँ प्रदान की जाती हैं।

(12) आयोग विश्वविद्यालयों को महिला अध्ययन में अनुसंधान के लिए सुस्पष्ट परियोजनाएँ शुरू करने तथा अपर स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तरों पर एवं संगत विस्तार कार्यों (Extension activities) में पाठ्यचर्या के विकास के लिए सहायता प्रदान करता है।

प्रश्न 2. जनसंख्या विस्फोट से क्या आशय है? जनसंख्या विस्फोट से मानव जीवन तथा पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभाव के बारे में विवेचन कीजिए।

उत्तर–

जनसंख्या विस्फोट

मानव के आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में जनसंख्या वृद्धि दर भी भिन्न-भिन्न देखने को मिलती है। जनसंख्या के आर्थिक विकास को कुछ अर्थशास्त्रियों ने चार अवस्थाओं में विभाजित किया है जिनमें जन्मदर एवं मृत्युदर में भिन्नता के कारण वृद्धि दर भिन्न-भिन्न मिलती है। मानव विकास की प्रथम अवस्था में जन्मदर एवं मृत्युदर दोनों ही अत्यधिक उच्च लगभग 35 प्रति हजार मिलती है, जिस कारण जनसंख्या लगभग स्थिर रहती है। इस तरह की स्थिति अत्यधिक पिछड़ी अर्थव्यवस्था वाले क्षेत्रों में मिलती है जहाँ अशिक्षा, रूढ़िवादिता, बालविवाह, परिवार नियोजन के कार्यक्रमों एवं साधनों के अभाव आदि के कारण जन्मदर ऊँची मिलती है, जबकि प्रौद्योगिकी का अभाव, चिकित्सा सुविधाओं का अभाव, कुपोषण, बीमारी आदि कारणों से मृत्युदर भी ऊँची मिलती है जो कि उच्च जन्मदर को संतुलित कर देती है। अतः ऐसे क्षेत्रों में उच्च स्थिर जनसंख्या देखने को मिलती है।

द्वितीय अवस्था कृषि अर्थव्यवस्था की है, जिसमें पोषण में वृद्धि, आर्थिक स्तर में सुधार, चिकित्सा सुविधाओं, परिवार नियोजन की जानकारी आदि बातों के परिणामस्वरूप मृत्युदर घटकर 25-15 प्रति हजार के मध्य आ जाती है, जबकि कृषिगत अर्थव्यवस्था के कारण बड़े परिवार की लालसा तथा अन्य कारणों से जन्मदर यथावत् बनी रहती है, जिसके

परिणामस्वरूप जन्मदर एवं मृत्युदर में अन्तर के कारण जनसंख्या काफी तीव्र दर से बढ़ती है जिसे जनसंख्या विस्फोट की संज्ञा दी जाती है। विकास की तृतीय अवस्था में उद्योग एवं कृषि का विकास समान रूप से होता है, जिससे लोगों की आर्थिक विकास में वृद्धि, उच्च आय, नगरीकरण, औद्योगीकरण, चिकित्सा सुविधाओं में अत्यधिक वृद्धि, शिक्षा का प्रसार, परिवार नियोजन के साधनों का उपयोग आदि के परिणामस्वरूप जन्मदर 20 प्रति हजार से ऊपर तथा मृत्युदर 15 प्रतिहजार से नीचे घटकर आ जाती है, जिस कारण जनसंख्या वृद्धि दर द्वितीय अवस्था की अपेक्षा कुछ घट जाती है परन्तु जनसंख्या में वृद्धि जारी रहती है। यह स्थिति जनसंख्या विस्फोट की कहलाती है। भारत इसी स्थिति से गुजर रहा है। देश में जनसंख्या विस्फोट के परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की पर्यावरणीय समस्याएँ उत्पन्न होने लगती हैं। विकास की चतुर्थ अवस्था में शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग, व्यापार, रोजगार, सेवाओं के उच्चस्तरीय होने के कारण जन्म एवं मृत्यु दरें अत्यधिक घट जाती हैं, जिन्हें निम्न स्थिर दशा कहते हैं। सभी विकसित देश इसी वर्ग में आते हैं।

जनसंख्या विस्फोट से उत्पन्न पर्यावरणीय समस्याएँ एवं मानव जीवन पर प्रभाव

मानव ने यद्यपि प्रारम्भ से ही अपने प्राकृतिक पर्यावरण के साथ छेड़छाड़ शुरू कर दिया था, लेकिन उसकी संख्या में कमी एवं सीमित क्रियाकलापों के कारण पर्यावरण पर उसका प्रभाव नहीं पड़ा। मानव संख्या में अत्यधिक वृद्धि के परिणामस्वरूप उसके सामने भोजन, वस्त्र, आवास, कुपोषण, बेरोजगारी, संसाधनों की अपर्याप्तता, असंतुलित लिंगानुपात अनेक प्रकार की सामाजिक बुराइयाँ यथा— लूटपाट, चोरी, व्यभिचार, दंगा आदि श्रृंखलाबद्ध समस्याएँ उत्पन्न होने लगती हैं।

खाद्य समस्या— भोजन मानव की मूलभूत आवश्यकताओं में से एक है, तीव्र गति से बढ़ती जनसंख्या के भरण-पोषण के लिए अधिक खाद्यान्न की आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति कृषि क्षेत्रों में विस्तार एवं अधिकाधिक मात्रा में उर्वरकों एवं कीटनाशक रसायनों का उपयोग कर खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि के द्वारा की जा रही है। कृषि क्षेत्रों में विस्तार प्राकृतिक वनस्पति को नष्ट करके किया जा रहा है, जिससे पर्यावरण में असंतुलन बढ़ता जा रहा है। हिमालय के पर्वतीय ढालों पर वनों को काटकर कृषि कार्य किया जा रहा है, जिसके परिणामस्वरूप मृदा अपरदन एवं भूस्खलन की स्थिति उत्पन्न हो गयी है जिसके कारण नदियों की तली में अवसादीकरण एवं बाढ़ की समस्या उत्पन्न होती जा रही है एवं प्रति वर्ष अपार जन एवं धन की हानि हो रही है। अत्यधिक मात्रा में कृत्रिम उर्वरकों एवं कीटनाशक रसायनों व सिंचाई के प्रयोग के फलस्वरूप मिट्टी की गुणवत्ता प्रभावित हो रही है। सिंचाई के फलस्वरूप लवणीकरण या जल भराव की समस्या एवं उससे उत्पन्न संकट का सामना करना पड़ रहा है।

इसके अतिरिक्त भी विशाल जनसंख्या के भरण-पोषण के लिए प्रतिवर्ष विदेशों से भारी मात्रा में खाद्यान्न का आयात करना पड़ रहा है जिसके लिए देश को अधिक विदेशी मुद्रा व्यय करनी पड़ती है।

आवास समस्या— भारत में तीव्र गति से बढ़ती जनसंख्या के कारण ग्रामीण एवं नगरीय दोनों क्षेत्रों में आवास की समस्या जटिल होती जा रही है। नगरीय क्षेत्रों में तो इसकी भयावह स्थिति देखने को मिलती है। रोजगार के लिए ग्रामीण क्षेत्रों से व्यापक मात्रा में लोग नगरीय क्षेत्रों को प्रवास करते जा रहे हैं, जिससे नगरीय क्षेत्रों की जनसंख्या बढ़ती जा रही है परन्तु उस अनुपात में आवासों की संख्या में वृद्धि नहीं हो पा रही है। एक अनुमान के अनुसार भारत में प्रतिवर्ष 17 लाख आवासों की कमी नगरीय क्षेत्रों में हो रही है, जिसके फलस्वरूप नगरीय भागों में मकानों का किराया एवं आवासीय भूमि के दामों में बेतहाशा वृद्धि होती जा रही है एवं आम आदमी की कुल आय का एक तिहाई से अधिक मकान के किराये में चला जा रहा है। इसके कारण ग्रामीण क्षेत्र से शहर गये मजदूर वर्ग या निम्न वर्ग के लोग रेलवे लाइन के किनारे, नेशनल हाइवे के किनारे, पुलों के नीचे, फुटपाथों पर झोपड़ियों, मलिन बस्तियों का निर्माण कर उनमें रहने को मजबूर हो जाते हैं, जहाँ शौचालय, पीने के साफ पानी, पर्याप्त रोशनी, पानी की निकासी आदि की सुविधा नहीं होती है। लोग दुर्गन्धयुक्त, शीलनयुक्त परिवेश में रहने के कारण अनेक प्रकार की बीमारियों से ग्रसित हो जाते हैं। ये मलिन बस्तियाँ असामाजिक तत्त्वों के अड्डे एवं अनेक प्रकार की समस्याओं के केन्द्र बन जाती हैं। भारत में सभी नगरों में मलिन बस्तियाँ देखने को मिलती हैं। मुम्बई नगर की 44%, कोलकाता की 40%, चेन्नई की 39%, दिल्ली की 38% जनसंख्या, अहमदाबाद की 34.5% तथा कानपुर की 34.4% जनसंख्या मलिन बस्तियों में निवास करती हैं।

तीव्र जनसंख्या वृद्धि— जनसंख्या विस्फोट की स्थिति जन्मदर एवं मृत्युदर में काफी अन्तर के कारण होने वाली तीव्र जनसंख्या-वृद्धि के द्वारा उत्पन्न होती है। जनसंख्या में होने वाली इस तीव्र वृद्धि के फलस्वरूप देश के विकास में रुकावट उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि देश की कुल आय का बड़ा हिस्सा बढ़ी हुई जनसंख्या के भरण-पोषण, आवास आदि में लग जाता है। भारत में पिछले 50 वर्षों में जनसंख्या में तीन गुनी वृद्धि हुई है। 1951 में भारत की जनसंख्या 36.11 करोड़ थी जो कि 2001 में बढ़कर 102.78 करोड़ हो गयी है तथा यही 2011 में बढ़कर 1 अरब 21 करोड़ हो गयी है।

निर्धनता— जनसंख्या में तीव्र वृद्धि के कारण निर्धन लोगों की संख्या में वृद्धि होती जा रही है। सामान्य रूप से उन लोगों को निर्धन माना जाता है जो धनाभाव के कारण एक निश्चित न्यूनतम उपभोग का स्तर प्राप्त करने में सक्षम नहीं होते हैं। वर्तमान समय में भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में लगभग 41.2% एवं नगरीय क्षेत्रों में 37.4% जनसंख्या निर्धनता रेखा से नीचे जीवन यापन कर रही है। इन गरीब लोगों में शिक्षा का अभाव, निम्नतम रहन-सहन स्तर, बाल-विवाह, बहु-विवाह, परिवार नियोजन के साधनों की जानकारी का अभाव, मनोरंजन के अन्य साधनों का अभाव, परिवार में अधिक हाथ अधिक रोजगार की धारणा आदि के फलस्वरूप जन्मदर अत्यधिक पायी जाती है जिस कारण यह लोग गरीबी के दुश्चक्र में फँसते जा रहे हैं। मलिन बस्तियों में रहने, भरपेट भोजन नहीं मिल पाने, अनेक प्रकार के व्यसनों को अपनाने के कारण इन लोगों को अनेक प्रकार की बीमारियाँ घेर लेती हैं।

कुपोषण— खाद्य पदार्थों की कमी, गरीबी, अज्ञानता आदि के कारण विश्व की कुल जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा कुपोषण का शिकार है। अधिकांश अफ्रीकी एवं एशियाई

देशों में कुपोषणता अधिक मिलती है। भारत में भी विशाल जनसंख्या कुपोषण से ग्रस्त है। स्वास्थ्य विभाग ने एक भारतीय के स्वस्थ रहने के लिए प्रतिदिन औसतन 2,400 कैलोरी आवश्यक माना है परन्तु यहाँ औसतन एक व्यक्ति को मात्र 1,950 कैलोरी ही प्राप्त होती है। गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले 30 प्रतिशत लोगों को तो औसतन 1,700 कैलोरी ही प्राप्त होती है। भारतीयों के भोजन में सभी पोषक तत्त्वों यथा— प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, विटामिन आदि की उचित मात्रा का अभाव रहता है, जिससे विशेष रूप से गर्भवती महिलाएँ और बच्चे कुपोषण का शिकार होकर विभिन्न बीमारियों से घिर जाते हैं। कुपोषण के शिकार लोगों की कार्यक्षमता पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। कुपोषण भी कई प्रकार का होता है यथा— अल्पपोषण, अति पोषण, असंतुलित पोषण एवं विशिष्ट अभाव आदि।

अत: इसके अतिरिक्त भी जनसंख्या विस्फोट से अनेक प्रकार की समस्याओं यथा— बेरोजगारी का बढ़ना, विभिन्न संस्थानों की कमी यथा— पीने के लिए पानी की, भोजन की कमी के अतिरिक्त बढ़ी जनसंख्या की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विभिन्न संसाधनों का अधिक दोहन आदि के फलस्वरूप अनेक दुष्प्रभाव प्रकट होने लगते हैं। बेरोजगारी के बढ़ने का ही प्रभाव है कि लूट-पाट, डकैती एवं हत्याओं की घटनाएँ समाज में अधिक देखने को मिल रही हैं। इन सब घटनाओं के पीछे बेरोजगार युवा वर्ग ही अधिकांशत: संलिप्त हैं। बेरोजगारी भी मौसमी, सामान्य, छुपी हुई (प्रच्छन्न) जैसे— कृषि कार्य में आवश्यकता से अधिक लोगों का होना, औद्योगिक, शिक्षित बेरोजगारी आदि अनेक प्रकार की मिलती है। जनसंख्या में तीव्र वृद्धि ने बेरोजगारी की समस्या को भयावह बना दिया है। जनसंख्या विस्फोट के कारण कम आय, अल्परोजगार, अल्प बचत, खराब स्वास्थ्य एवं अल्प उत्पादन की क्रमिक शृंखलाओं के कारण देश निर्धनता के दुश्चक्र में फँस जाता है तथा इसे दूर करने हेतु अधिक विदेशी कर्ज लेता है तथा कृषि, उद्योग आदि के विकास हेतु पर्यावरण विघटन करता है।

प्रश्न 3. शैक्षिक प्रशासन से क्या आशय है ? केन्द्र सरकार की शैक्षिक प्रशासकीय संरचना का वर्णन कीजिए।

उत्तर— भारत का शैक्षिक प्रशासन लोकतन्त्र तथा धर्म-निरपेक्षता की नीतियों पर आधारित है। हमारा शैक्षिक प्रशासन बहुत कुछ सत्ता के विकेन्द्रीकरण में विश्वास रखता है। शिक्षा के विषय में सत्ता के विकेन्द्रीकरण की अनिवार्यता तब अधिक स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आती है जब हम चाहते हैं कि शिक्षा लोगों की रुचि, योग्यता, आवश्यकता एवं स्थानीय परिस्थितियों एवं समस्याओं के अनुसार ही प्राप्त हो। भारत में उत्तर प्रदेश जैसे अधिक जनसंख्या वाले प्रान्त भी हैं। भौगोलिक परिस्थितियों के साथ-साथ इनकी स्थानीय आर्थिक, सामाजिक एवं शैक्षिक परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न हैं। अत: लोकतन्त्र की माँग है कि सत्ता का न केवल प्रान्त स्तर तक बल्कि स्थानीय निकायों के स्तर तक विकेन्द्रीकरण हो और इन स्थानीय निकायों को भी शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ हद तक निर्णय लेने का अधिकार हो।

स्पष्ट है कि उक्त के अलावा केन्द्रीय सरकार का शिक्षण पर नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। पर राज्य सरकारें पूर्णत: शिक्षा व्यवस्था पर नियन्त्रण रखने में सक्षम नहीं हैं और उन्हें संघीय सरकार से सम्पूर्ण देश से सम्बन्धित विषयों पर परामर्श अवश्य लेना पड़ता है। इस

प्रकार भारतीय शिक्षा व्यवस्था के संगठन में संघीय सरकार राज्य सरकारों को सहयो परामर्श और संरक्षण प्रदान करती है।

संघीय सरकार शिक्षा के उन विषयों में राज्य सरकारों को परामर्श देती है, जिन सम्बन्ध सम्पूर्ण देश से होता है। सामान्यतः बुनियादी शिक्षा, शिक्षकों की प्रशिक्षण व्यवस विभिन्न क्षेत्रों में अनुसन्धान व विश्वविद्यालयों आदि को सुचारु रूप से चलाने के लिए संघ सरकार द्वारा आर्थिक सहायता दी जाती है।

1957 ई. में केन्द्रीय शैक्षिक प्रशासन दो भागों में विभक्त कर दिया गया–

(1) शिक्षा का मन्त्रालय तथा

(2) वैज्ञानिक अनुसन्धान एवं सांस्कृतिक मन्त्रालय।

शिक्षा मन्त्रालय के मुख्य रूप से दो कार्य हैं–

(अ) समस्त देश की शिक्षा नीति का निर्धारण तथा

(ब) विभिन्न राज्यों की शिक्षा-प्रणाली की एकरूपता की स्थापना।

शिक्षा मन्त्रालय का अध्यक्ष शिक्षामन्त्री होता है और उसके अधीन ही यह मन्त्राल कार्य करता है।

केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय नौ विभागों में विभक्त है–

(1) प्राथमिक एवं बेसिक शिक्षा विभाग,

(2) माध्यमिक शिक्षा विभाग,

(3) उच्च शिक्षा एवं यूनेस्को विभाग,

(4) हिन्दी एवं सांस्कृतिक कार्य विभाग,

(5) व्यायाम, शारीरिक प्रशिक्षण तथा मनोरंजन विभाग,

(6) सामाजिक शिक्षा एवं समाज कल्याण विभाग,

(7) छात्र-वृत्तियों का विभाग,

(8) प्रशासन का विभाग तथा

(9) शोध एवं प्रकाशन का विभाग।

शिक्षा मन्त्रालय को परामर्श देने के लिए अनेक परामर्शदात्री संस्थाएँ हैं, जो संक्षेप म निम्नलिखित हैं–

1. केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार मण्डल– शिक्षा मन्त्रालय के समस्त गतिविधियों क आधार यही मण्डल है। इसका सभापति शिक्षामन्त्री होता है। साथ ही इसमें भारत सरकार के शिक्षा परामर्शदाता, भारत सरकार द्वारा मनोनीत 15 सदस्य, लोकसभा द्वारा निर्वाचित 3 तथ राज्य सभा द्वारा निर्वाचित 2 सदस्य, अन्तर्विश्वविद्यालय द्वारा निर्वाचित दो सदस्य, अखिल भारतीय शिक्षा परिषद् द्वारा मनोनीत 2 सदस्य तथा प्रत्येक राज्य के शिक्षामन्त्री होते हैं। इस मण्डल का एक सचिव होता है, जिसकी नियुक्ति भारत सरकार द्वारा की जाती है। मण्डल की बैठक कम-से-कम वर्ष में एक बार अवश्य की जाती है। चूँकि शिक्षा राज्य का विषय है इसलिए राज्य सरकारें इस मण्डल की सलाहों को मानने के लिए बाध्य नहीं हैं।

2. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग– विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को संसद द्वारा कानूनी दर्जा 1960 ई. में प्राप्त हुआ। इस आयोग में नौ सदस्य होते हैं। इस आयोग का कार्य

विश्वविद्यालय शिक्षा के स्तर तथा शिक्षण प्रणाली के उत्थान के विषय में परामर्श देना, नवीन विश्वविद्यालयों की स्थापना करना और पुराने विश्वविद्यालयों के कार्यों को बढ़ाने के सन्दर्भ में मत व्यक्त करना, विश्वविद्यालय से उनकी आर्थिक स्थिति, परीक्षाएँ, शिक्षण-पद्धति, पाठ्यक्रमों तथा अनुसन्धान कार्यों के विषय में सूचना प्राप्त करना, विश्वविद्यालयों की आर्थिक स्थिति की जाँच करना और सरकार को विश्वविद्यालय को दी जाने वाली सहायता के अनुदान के सम्बन्ध में सूचना देना होता है।

3. **अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा परिषद्–** यह परिषद माध्यमिक शिक्षा की प्रगति के सम्बन्ध में विचार करती है। भारत सरकार का शिक्षा सचिव इसका अध्यक्ष होता है।

4. **अखिल भारतीय प्राथमिक शिक्षा परिषद्–** इसकी स्थापना 17 जून, 1957 को की गयी। इसका अध्यक्ष भारत सरकार का शिक्षा सचिव होता है। इस परिषद में समस्त प्रान्तों के केन्द्रीय परामर्शदाता मण्डल, अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा परिषद्, प्रशिक्षण महाविद्यालयों तथा शिक्षा मन्त्रालय के प्रतिनिधि होते हैं। इसका कार्य भारत सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों को प्राथमिक शिक्षा के सम्बन्ध में परामर्श देना है।

5. **ग्रामीण उच्चतर शिक्षा समिति-** इसकी स्थापना 1956 ई. में हुई। इसका कार्य ग्राम्य शिक्षा के सम्बन्ध में सरकार को परामर्श देना है।

6. **केन्द्रीय समाजसेवा मण्डल–** इसकी स्थापना 1953 ई. में हुई। इसमें अध्यक्ष के अतिरिक्त 12 सदस्य होते हैं। इसका कार्य समाज कल्याण विभाग द्वारा बनाये गये संगठनों के कार्यों में समन्वय स्थापित करना होता है।

7. **शारीरिक शिक्षा एवं मनोरंजन का केन्द्रीय परामर्शदाता मण्डल–** इसका पुनर्गठन 1952 ई. में हुआ। इसका कार्य भारत सरकार की शारीरिक शिक्षा एवं मनोरंजन सम्बन्धी मामलों में परामर्श देना है।

8. **दृश्य-श्रव्य शिक्षा का राष्ट्रीय मण्डल–** इसकी स्थापना 1953 ई. में हुई। इस मण्डल का कार्य भारत सरकार की दृश्य-श्रव्य शिक्षा के विकास के सम्बन्ध में सुझाव देना और दृश्य-श्रव्य शिक्षा के सम्बन्ध में उपकरण तैयार करना है।

9. **अखिल भारतीय क्रीड़ा परिषद्–** इस परिषद् का कार्य भारत सरकार में क्रीड़ा सम्बन्धी मामलों में परामर्श देना है।

प्रश्न 4. शैक्षिक प्रबन्धन का क्या अर्थ है? शैक्षिक प्रबन्धन के कार्य बताइए।

उत्तर– शैक्षिक प्रबन्धन का अर्थ– आधुनिक समय में वैज्ञानिक एवं तकनीकी के क्षेत्र में हुई आशातीत प्रगति के परिणामस्वरूप समाज, शिक्षा तथा ज्ञान के कई क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए तथा चिन्तन के परिणामस्वरूप विविध पहलुओं में नूतन आयामों का अभ्युदय हुआ। 'प्रबन्धन' शब्द शिक्षा में बिल्कुल नया है। इसे अभी हाल में ही शिक्षा और शिक्षण में स्थानापन्न किया गया है। सम्भवत: 'प्रबन्धन' शब्द को व्यवसाय एवं उद्योगों से ग्रहण किया गया है।

सामान्य अर्थों में प्रबन्धन से तात्पर्य किसी निश्चित् उद्देश्यों को पूरा करने के लिए व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूहों तथा साधनों की सहायता से किसी कार्य के सम्पादन से लगाया जाता है। वस्तुत: प्रत्येक संगठन में प्रबन्धन का अपना अलग महत्त्व होता है। लेकिन प्राय:

निश्चित कार्यों को ध्यान में रखकर विविध साधनों की मदद से किये जाने वाले कार्य प्रक्रि को प्रबन्धन के नाम से सम्बोधित किया जाता है। प्रबन्धन का मुख्य लक्ष्य अधिकतम कुशल तथा सम्पन्नता का स्तर प्राप्त करना है। अत: प्रबन्धन में उपलब्ध मानवीय भौतिक साधनों साथ-साथ वैज्ञानिक विधियों, उपकरणों तथा सिद्धान्तों को भी अपनाया जाता है, जिस प्रबन्धन के लक्ष्यों की प्राप्ति प्रभावी ढंग से की जा सके। इसी कारण प्रबन्धन को कभी-क वैज्ञानिक प्रबन्धन भी कहा जाता है।

'प्रबन्धन' को समझने में विद्वानों की निम्नांकित परिभाषाएँ उल्लिखित की जा सकत हैं—

अमेरिकन मैनेजमेण्ट एसोसिएशन के अनुसार— "प्रबन्धन का कार्य मानवीय ए भौतिक संसाधनों को ऐसी गतिशील संगठित इकाइयों में तब्दील कर देना है, जिसके द्वा उद्देश्यों की पूर्ति हेतु इस प्रकार का कार्य किया जा सके, जिनके लिए प्रबन्धन किया जा र है, उन्हें सन्तुष्टि प्राप्त हो सके तथा जो कार्य कर रहे हैं, उनमें उच्च नैतिक स्तर बनाये रखते हु उत्तरदायित्व निभाने की भावना बनी रहे।"

एफ. डब्ल्यू. टेलर के अनुसार— "प्रबन्धन किसी संस्था या विशिष्ट संगठन कार्यरत कार्मिकों की दृष्टि से एक मानसिक क्रान्ति है।"

फेयोल के शब्दों में— "प्रबन्धन का तात्पर्य पूर्व अनुमान, संगठन, नियोजन, निर्देशन समन्वय तथा नियंत्रण करने से है।"

शूल्जे के मतानुसार— "प्रबन्धन वह शक्ति है जो किसी पूर्व निश्चित उद्देश्य के लि किसी संगठन का नेतृत्व, पथ-प्रदर्शन तथा निर्देशन करती है।"

मिलवर्ड के शब्दों में— "प्रबन्धन वह विधि एवं माध्यम है, जिसके अनुसार नीतिय को क्रियान्वित करने की योजना बनायी जाती है तथा निरीक्षण किया जाता है।"

मेयर के अनुसार— "प्रबन्धन एक आन्तरिक अवधारणा है जो किसी संगठन क इकाई के ढाँचे के अन्तर्गत सम्पन्न की गयी क्रिया को प्रकट करता है।"

विल्सन के अनुसार— "प्रबन्धन एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके अन्तर्गत मानवी शक्तियों को किसी निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति हेतु प्रयोग में लाने तथा लक्ष्य निर्देशित रहने क कार्य किया जाता है।"

अत: उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण के आधार पर प्रबन्धन की प्रकृति के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

(i) प्रबन्धन किसी कार्य को नियोजित ढंग से करने की कला है।

(ii) प्रबन्धन सामूहिक सहयोग या सहकारिता पर आधारित प्रक्रिया है।

(iii) प्रबन्धन संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु सम्पूर्ण मानवीय एवं भौतिक संसाधनों के कौशल एवं शक्ति का प्रयोग है।

(iv) प्रबन्धन में अनुमान, संगठन, नियोजन, निर्देशन, समन्वय तथा नियंत्रण शामिल होता है।

(v) प्रबन्धन किसी संगठन में कार्यरत व्यक्तियों का कुशलतायुक्त कार्य करने का तरीका है।

(vi) प्रबन्धन कार्य एवं उत्तरदायित्वों की सीमा का निर्धारण है।

(vii) प्रबन्धन में गतिशीलता होती है यह समय-सापेक्ष परिवर्तित भी होता रहता है।

प्रबन्धन के मूल तत्त्व— प्रबन्धन में मूलत: किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वप्रथम उपलब्ध कार्यस्रोत जैसे— भूमि, इमारत, मानवीय संसाधन, यांत्रिक उपकरण, भौतिक संसाधन को दृष्टिगत रखकर रूपरेखा बनायी जाती है।

प्रबन्ध की रूपरेखा के निम्नलिखित मूल तत्त्व होते हैं—

1. नियोजन
2. निर्देशन
3. समन्वय
4. नियन्त्रण
5. सम्प्रेषण
6. मूल्यांकन

प्रबन्धन के प्रमुख कार्य

प्रबन्धन के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

1. **नियोजन**— प्रबन्धन में सर्वप्रथम लक्ष्य के निर्धारण के बाद योजना का निर्माण किया जाता है।

2. **बजटिंग**— योजना बनाने के बाद बजट की व्यवस्था बनायी जाती है।

3. **नियंत्रण**— इसके बाद योजना पर निगाह रखने हेतु नियंत्रण के सम्बन्ध में निर्णय लिया जाता है।

4. **नियुक्तिकरण**— नियंत्रण की रूपरेखा बनाने के बाद कर्मचारियों, प्रशासकों की नियुक्ति की जाती है।

5. **निर्देशन**— कर्मचारियों की नियुक्ति के बाद उन्हें कार्य के सन्दर्भ में यथोचित निर्देशन दिया जाता है।

6. **समन्वय**— कर्मचारियों के कार्यों का विभाजन करके उन्हें आपस में एक दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप न करने तथा समन्वय बनाने की रूपरेखा बनायी जाती है।

7. **अभिप्रेरणा**— समय-समय पर कर्मचारियों को कार्य के प्रति समर्पित होने के लिए अभिप्रेरणा की व्यवस्था की जाती है। यह अभिप्रेरणा पुरस्कार, वेतनवृद्धि, बोनस आदि के रूप में हो सकता है।

8. **संगठन**— अन्त में एक सामूहिक संगठन का निर्माण होता है, जो निर्धारित उद्देश्यों को समर्पित भाव से वांछित सफलता की प्राप्ति कराता है।

प्रश्न 5. विद्यालय प्रधानाध्यापक के कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्वों का वर्णन कीजिए।

उत्तर— शिक्षण के क्षेत्र में प्रधानाध्यापक एक नेता होता है। इस क्षेत्र में उसे छात्र-छात्र, शिक्षक-छात्र, शिक्षक-शिक्षक, शिक्षक-निरीक्षक, शिक्षक-अभिभावक आदि के सम्बन्धों को सन्तुलित एवं निरीक्षित करना पड़ता है। इन समस्त प्रकार के सम्बन्धों पर उसके व्यक्तित्व की अमिट छाप पड़ती है। प्रधानाध्यापक के शिक्षा-सम्बन्धी ज्ञान के ऊपर ही सम्पूर्ण शैक्षिक कार्यक्रम की उन्नति एवं सफलता निर्भर है। यदि वह प्रचलित शिक्षा सम्बन्धी सिद्धान्तों एवं प्रयोगों से स्वयं को अवगत नहीं कराता है अथवा उसे उनका व्यावहारिक ज्ञान नहीं है, तो वह अपने शिक्षकों एवं साथियों का शिक्षण के क्षेत्र में नेतृत्व नहीं कर सकता है। इन सिद्धान्तों एवं

प्रयोगों के बल से ही वह अपने विद्यालय में प्रदान किये जाने वाले शिक्षण को उन्नत बना सकता है तथा अभीष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति कर सकता है।

प्रधानाध्यापक विद्यालय के साथ-साथ समाज का भी नेता है। विद्यालय एक सामाजिक संस्था है, जिसको समाज का आदर्श रूप प्रस्तुत करना चाहिए। प्रधानाध्यापक ही वह कड़ी है, जो विद्यालय का समाज से मधुर सम्बन्ध स्थापित कराती है। प्रधानाध्यापक विद्यालय के कुशल संचालन द्वारा समाज की माँगों की पूर्ति करने में सहायक ही नहीं होता है वरन् विद्यालय समाज में समाज का आदर्श रूप प्रतिबिम्बित करके समाज को भी प्रगति के पथ पर अग्रसर करता है।

स्पष्टत: प्रधानाध्यापक प्रशासक, संगठनकर्त्ता, निर्देशक एवं निरीक्षक का सम्मिलित रूप है।

प्रधानाध्यापक के कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व

केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों की शिक्षा, प्रशासन पटुता, योजनाएँ एवं पर्यवेक्षणशीलता, शिक्षा विभाग की पूर्ण सक्रियता, समाज की सेवा एवं त्याग, सबकी सार्थकता विद्यालय की गोद में प्रतिफलित होती है। वह विद्यालय प्रधानाध्यापक की सूझ-बूझ, कार्यकुशलता एवं प्रशासन दक्षता की छत्रछाया में ही निखरता है। सारे प्रशासनिक ताने-बाने, वित्तीय व्यवस्था, त्याग, प्रधानाध्यापक की क्षणिक लापरवाही से निष्फल प्रमाणित हो सकते हैं।

सारे देश की कामनाओं की सफलता की कुञ्जी मात्र प्रधानाध्यापक के हाथों में होती है। उसके कार्यों एवं महत्त्वों की अवहेलना भीषण बरबादी और अध:पतन का इतिहास खड़ा कर सकती है। उसके कार्य एवं उत्तरदायित्व को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

पर्यवेक्षणात्मक कार्य— पर्यवेक्षण के अन्दर शिक्षालय तथा उससे सम्बन्धित समस्त क्षेत्रों में प्रवेश हो जाता है। एक प्रधानाध्यापक और इतने कार्यों का पर्यवेक्षण एक कुशल प्रशासक की अपेक्षा रखता है। सशक्त एवं अनवरत पर्यवेक्षण के अभाव में व्यवस्था-भवन की ईंटें अलग-अलग बिखरने लगती हैं और एक दिन सारा भवन धराशायी हो जाता है। एक कुशल प्रधानाध्यापक के पर्यवेक्षणात्मक कार्यों का क्षेत्र निम्नलिखित हैं—

(1) शिक्षण और अन्य कार्य जो अध्यापक द्वारा किये जाते हैं— विद्यालय का मूल कार्य शिक्षण है, जिसे अध्यापक समुदाय अपनी योग्यतानुसार सम्पन्न करता है। चूँकि सभी अध्यापकों का स्वभाव एक समान नहीं होता, इसलिए शिक्षण कार्य का पर्यवेक्षण अति आवश्यक है। शिक्षण कार्य के सफल पर्यवेक्षण के लिए प्रधानाध्यापक को निम्नलिखित कार्य करना चाहिए—

(i) उसे खुद एक कुशल शिक्षक होना चाहिए, ताकि सारे अध्यापकों के सामने वह एक आदर्श प्रस्तुत कर सके।

(ii) सफल शिक्षण के निमित्त मानदण्डों का निर्माण करते समय सभी शिक्षकों से राय लेनी चाहिए, ताकि वे प्रधानाध्यापक द्वारा प्रस्तुत किये गये सुझावों से सहमत हों और उनको व्यवहार में लाने का प्रयास करें।

(iii) उसे अध्यापन-रत शिक्षक के कक्षा में पीछे से प्रवेश कर शान्तिपूर्ण ढंग से

सहयोग एवं सहानुभूति की भावना से शिक्षक के कार्यों का पर्यवेक्षण करना चाहिए, जो कुछ सुझाव देना हो उसे कक्षा में नहीं, कक्षा के बाहर अपने कार्यालय में बुलाकर देना चाहिए।

(iv) शिक्षण कार्यों का पर्यवेक्षण करते समय उसे इन बातों पर ध्यान देना चाहिए— कक्षा शान्तिपूर्ण और सुव्यवस्थित है या नहीं, अध्यापक विषय को तैयार करके आया है या नहीं, उस दिन पढ़ाई जाने वाली विषय-सामग्री के लिए उपयुक्त शिक्षण सामग्रियों की व्यवस्था की गयी है या नहीं। श्यामपट्ट का प्रयोग हो रहा है या नहीं, छात्र शिक्षक में आस्था और विषय में रुचि ले रहे हैं या नहीं, छात्र सक्रिय हैं या नहीं, छात्रों को अध्यापनार्थ प्रेरित करने के लिए शिक्षक द्वारा प्रयास किया गया या नहीं।

(v) प्रधानाचार्य को चाहिए कि वह शिक्षकों द्वारा तैयार की जाने वाली डायरियों, उपस्थिति पंजिकाओं एवं छात्र-प्रगति सूचक अभिलेखों का भी निरीक्षण समय-समय पर करता रहे। उसे पर्यवेक्षण कार्य रचनात्मक दृष्टिकोण से करना चाहिए और शिक्षकों को सहानुभूतिपूर्ण ढंग से सुझाव देना चाहिए।

(2) कार्यालय एवं विद्यालय के समस्त अभिलेखों का निरीक्षण— इसके लिए प्रधानाचार्य को निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए—

(i) वह स्वयं अपनी जिम्मेदारियों के प्रति सजग एवं चुस्त हो। उसे चाहिए कि सामने रखी हुई फ़ाइलों तथा अन्य कार्यों को शीघ्रातिशीघ्र निपटाने का प्रयास करे।

(ii) कभी-कभी उसे लिपिकों के कार्यालय का आकस्मिक निरीक्षण करना चाहिए। यह देखना चाहिए कि विभिन्न विषयों से सम्बन्धित अभिलेख निश्चित स्थानों पर क्रमानुसार रखे गये हैं या नहीं।

(iii) कार्यालय के कार्य एवं अभिलेख साफ-सुथरे हैं या नहीं।

(iv) इस विषय में उसे लिपिकों एवं अन्य कर्मचारियों को सहानुभूतिपूर्ण ढंग से सुझाव देना चाहिए।

(v) प्रधानाध्यापकों को पत्राचार के सम्बन्ध में पूर्ण सावधानी बरतनी चाहिए। सभी पत्रों के उत्तर और अपेक्षित सूचनाएँ, विभागों को समय से भेजता रहे।

(3) छात्रावास का पर्यवेक्षण एवं देखभाल— वैसे हर विद्यालयों में छात्रावासों की जिम्मेदारी, नियुक्त किये गये अध्यापकों के ऊपर ही निर्भर करती है, पर विद्यालय के प्रधान अधिकारी होने के नाते प्रधानाचार्य को भी छात्रावास का समय-समय पर पर्यवेक्षण करते रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

(i) छात्रावास में रहने वाले छात्रों एवं प्रिफ़ेक्ट्स से सम्पर्क स्थापित कर उनकी समस्याओं पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करना। इस सम्बन्ध में उपयुक्त सुझाव देना एवं लेना।

(ii) छात्रावास की सफाई, छात्रों के रहन-सहन, अध्ययन, खेलकूद और भोजन आदि की सही जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करना।

(4) पुस्तकालय की देखभाल— पुस्तकालय विद्यालय का प्राण होता है। इसलिये हर विद्यालय में इसकी उपयुक्त व्यवस्था होनी चाहिए। पुस्तकालय के लिए कक्ष एवं स्थान

का चयन सावधानी से करना चाहिए। कक्षा साफ-सुथरी, सुसज्जित एवं साधन-सम्पन्न हो। पुस्तकालय को समय-समय पर सहानुभूतिपूर्वक सुझाव देना चाहिए। पुस्तकालय के लिए पुस्तक मँगवाते समय छात्रों एवं अध्यापकों से राय लेना चाहिए। उपयोगी पुस्तकों की ही व्यवस्था करनी चाहिए। पुस्तकालय से सम्बद्ध एक वाचनालय की व्यवस्था करना चाहिए, जिसमें छात्रों के बैठने और अध्ययन करने की पूरी सुविधा हो साथ ही साथ ही उपयुक्त पत्र-पत्रिकाओं की व्यवस्था करना।

(5) छात्रों द्वारा किये गये गृह कार्य एवं अभ्यास के कार्यों का पर्यवेक्षण– विद्यालय में किये गये पटन-पाठन से ही छात्रों की प्रगति का सम्बन्ध नहीं होता, निरन्तर अभ्यास एवं कार्यरत रहने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने के लिए उन्हें गृह कार्य के रूप में प्रतिदिन कुछ समस्याएँ एवं जिम्मेदारियाँ देते रहना चाहिए। यद्यपि यह कार्य शिक्षकों का है, पर प्रधानाचार्य को भी इस सम्बन्ध में पर्याप्त सतर्क रहना चाहिए।

(6) सहगामी क्रियाओं की व्यवस्था, देखभाल एवं पर्यवेक्षण– छात्रों में सामाजिक गुणों के विकास, अनुशासन, स्थापन, रचनात्मक दृष्टिकोण को प्रोत्साहन देने तथा समाजीकरण की क्षमता के विकास में पाठ्यक्रम की सहगामी क्रियाओं का पर्याप्त महत्त्व है। प्रधानाचार्य को इस सम्बन्ध में भी सतर्क रहना चाहिए। खेलकूद, स्काउटिंग, एन. सी. सी., कार्य अनुभव, सामाजिक विकास के कार्य, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक कार्य, गोष्ठियाँ, परिषदें एवं सम्मेलन आदि ऐसी क्रियाएँ हैं, जिनका बालकों के चरित्र पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। इन सभी क्रियाओं के लिए अलग-अलग इकाइयाँ बनाकर तथा विभिन्न शिक्षकों तथा छात्र नेताओं को इनकी जिम्मेदारियाँ देकर जनतन्त्रीय व्यवस्था द्वारा प्रधानाध्यापक इनको सफलतापूर्वक संचालित कर सकता है।

उसे खुद समय-समय पर इन सभी इकाइयों के कार्यों का पर्यवेक्षण करते रहना चाहिए। उसे इनसे सम्बन्धित समस्याओं को हल करने एवं पर्याप्त सहायता देने के लिए हर समय तैयार रहना चाहिए।

(7) सामुदायिक विकास के कार्यों की देखभाल एवं पर्यवेक्षण– वर्तमान विद्यालय एक सामाजिक संस्था के रूप में सम्मानित किये जा रहे हैं। इस सम्मान की सार्थकता का अटूट सम्बन्ध समुदाय के विकास एवं उनकी समस्याओं के समाधान से जुड़ा है। सामुदायिक विकास के कार्यों में छात्र, शिक्षकों और समुदाय के सदस्यों के सहयोग से सक्रिय भाग लेते हैं। प्रधानाचार्य एक प्रधान की हैसियत से इनकी सफलता के लिए जिम्मेदार है। उसे समय-समय पर छात्रों द्वारा किये गये कार्यों का निरीक्षण करते रहना चाहिए, उन्हें प्रोत्साहन देना चाहिए और समुदाय से सम्पर्क स्थापित कर उसकी समस्याओं का पता लगाते रहना चाहिए। उसे इनकी व्यवस्था और गठन जनतन्त्रीय ढंग पर करना चाहिए।

(8) पाठ्य-पुस्तकों का चयन एवं देखभाल– पाठय-पुस्तकों का चयन करते समय प्रधानाध्यापक को निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए–

(i) क्या पुस्तक लेखन-शैली छात्रों में पर्याप्त विचार-शक्ति उत्पन्न करने की क्षमता रखती है ?

(ii) क्या उसकी भाषा-शैली उत्कृष्ट एवं सरल है ?

(iii) क्या उसमें अध्ययन और क्रिया करने के तरीकों को स्पष्ट किया जाता है ?
(iv) क्या वह छात्रों को आत्माभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करती है ?
(v) क्या पूरा पाठ्यक्रम उसमें समाहित है ?
(vi) क्या वह छात्रों की रुचि और योग्यता के अनुसार है ?
(vii) क्या उसकी छपाई उच्चकोटि की है ? आदि।

पाठ्य-पुस्तकों का चयन योग्य एवं अनुभवी अध्यापकों की समिति के माध्यम से होना चाहिए।

प्रश्न 6. पर्यावरण का क्या अर्थ है ? इसकी परिभाषा तथा विषय-क्षेत्र बताइए।

उत्तर— पर्यावरण से अभिप्राय एक ऐसे परिवृत्त से है, जो जन्तु तथा वनस्पति समुदाय को प्रभावित करता है। इस परिवृत्त में भौतिक तत्त्वों की प्रधानता होती है। पर्यावरण अंग्रेजी शब्द Environment का रूपान्तरण है, जो दो शब्दों से मिलकर बना है— Eviron तथा ment। जिनका अर्थ क्रमशः Encirlce या Enclose अर्थात् आसपास (Surrounding) को घेरे हुए है। कतिपय परिस्थिति वैज्ञानिकों ने पर्यावरण के लिए Environment शब्द के स्थान पर Habitat शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अभिप्राय समस्त परिवृत्ति से है। पर्यावरण का विस्तार जीवमण्डल की सीमा पृथ्वी की सतह से 10,000 मीटर की ऊँचाई से पृथ्वी सतह से 250 मीटर की गहराई तक तथा जलमण्डल में 8,000 मीटर गहराई तक फैला हुआ है।

सी. सी. पार्क के अनुसार— "पर्यावरण का अर्थ उन दशाओं के योग से होता है, जो मनुष्य को निश्चित समय में निश्चित स्थान पर आवृत्त करती हैं।"

ए. गाउडी ने अपनी पुस्तक The Nature of the Environment में पृथ्वी के भौतिक घटकों को ही पर्यावरण का प्रतिनिधि माना है तथा उनके अनुसार— "पर्यावरण को प्रभावित करने में मनुष्य एक महत्त्वपूर्ण कारक है।"

जर्मन वैज्ञानिक ***फिटिंग के अनुसार—*** "पर्यावरण जीवों के परिवृत्तीय कारकों का योग है। इसमें जीवन की परिस्थितियों के सम्पूर्ण तथ्य आपसी सामंजस्य से वातावरण बनाते हैं।"

हर्सकोविट्ज के अनुसार— "उन समस्त बाहरी दशाओं और प्रभावों का योग, जिसमें जीव रहते हैं, वातावरण या पर्यावरण कहलाता है।"

ब्रिटेनिका इनसाइक्लोपीडिया के अनुसार— "पर्यावरण उन सभी वाह्य प्रभावों का समूह है, जो जीवों को भौतिक एवं जैविक शक्ति से प्रभावित करते रहते हैं तथा प्रत्येक जीव को आवृत्त किये रहते हैं।"

पर्यावरण का विषय-क्षेत्र

पर्यावरण का विषय-क्षेत्र विस्तृत है। इसमें समस्त जीवमण्डल के वृहत् पारिस्थितिकी तंत्र से लेकर सूक्ष्म पारिस्थितिकी तंत्र का अध्ययन किया जाता है। पर्यावरण से संचालित विभिन्न जैव-भू-रासायनिक चक्रों द्वारा पर्यावरण के जैविक घटक जीवन को स्वस्थ आधार प्रदान करते हैं। इन घटकों के परस्पर तथा पर्यावरण के साथ सम्बन्धों के अध्ययन को पारिस्थितिकी विज्ञान कहते हैं। इसमें पर्यावरण के भौतिक तथा जैविक घटकों की पारस्परिक

अनुक्रिया का भौगोलिक अध्ययन किया जाता है। इन घटकों में जैविक घटक, भौतिक घटकों की सहायता से आहार ऊर्जा का संचरण करते हैं, जो विभिन्न पोषण स्तरों से गुजरते हुए एक आहार शृंखला का निर्माण करते हैं। इस प्रकार इन सभी गतिशील गतिविधियों का अध्ययन पर्यावरण के अन्तर्गत किया जाता है। पर्यावरण के घटकों को इसमें महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है, जिसका विवरण निम्नलिखित है—

पर्यावरण अध्ययन के विस्तृत स्वरूप को ही पर्यावरण विज्ञान अथवा पारिस्थितिकी कहते हैं। इस प्रकार पारिस्थितिकी का अध्ययन ही पर्यावरण का अध्ययन है। पारिस्थितिकी सम्पूर्ण जीवों एवं उनके सम्पूर्ण पर्यावरण के सम्बन्धों के अध्ययन का विज्ञान है। पर्यावरण में नाना प्रकार के प्राणी पाये जाते हैं और इन प्राणियों में अनेक प्रकार की विविधताएँ होती हैं। पर्यावरण की परिस्थितियों में भी नाना प्रकार की विविधताएँ होती हैं। इस प्रकार से पर्यावरण का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत होता है। पारिस्थितिकी अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य उन सिद्धान्तों को प्रतिपादित करना है, जिसमें विभिन्न प्रकार के समुदाय एवं उनके अन्य घटक पाये जाते हैं।

पौधों तथा जन्तुओं में विषम परिस्थितियों के प्रतिकूल कुछ अनुकूलन विकसित होते हैं। उन्हें दैनिक क्रियाओं तथा अन्य प्रकार की प्रक्रियाओं के संचालन के लिए पर्याप्त मात्रा में ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है। यह ऊर्जा उन्हें या तो सूर्य से प्राप्त होती है अथवा रासायनिक क्रियाओं से। पौधों तथा जन्तुओं की वृद्धि, विकास एवं नवीन कोशिकाओं के निर्माण के लिए भी पोषक पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है। विषम परिस्थितियों में रहते हुए इन्हें जीवित रहना पड़ता है, बीमारियों एवं रोगों से लड़ना पड़ता है। अन्य प्रकार के जीव-जन्तुओं से भक्षित होने से बचना पड़ता है। अगली पीढ़ी को चलाने के लिए प्रजनन करना पड़ता है। यही कारण है कि पारिस्थितिकी के अन्तर्गत उपर्युक्त सभी पहलुओं पर विचार करना आवश्यक होता है। हमें मात्र जीव-जन्तुओं तथा पेड़-पौधों का ही हर दृष्टिकोण से अध्ययन नहीं करना होता, बल्कि उस क्षेत्र में उपस्थित समस्त प्रकार के भौतिक घटकों का भी अध्ययन करना आवश्यक होता है। प्रकृति में कोई भी जीवधारी अथवा उसका समुदाय अकेला जीवन-यापन नहीं कर सकता है। जब तक कि वह अपने चारो ओर उपस्थित अन्य जैविक एवं अजैविक घटकों से सम्बन्ध नहीं स्थापित कर लेता। यही कारण है कि आधुनिक पारिस्थितिकी में जीव-जन्तुओं एवं उनके परित: परिवेश के बीच के सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है।

पारिस्थितिकी की गतिविधियाँ इतनी अधिक होती हैं कि उन्हें देखने में आश्चर्य-सा होता है। इतनी अधिक गतिविधियों का अध्ययन भी सम्भव नहीं है। अत: यह परमावश्यक हो जाता है कि हम पारिस्थितिकी के सिद्धान्तों एवं उनकी सामान्य समस्याओं का अध्ययन करें। इसलिए खाद्य शृंखला का आपसी सम्बन्ध, जैव अनुकूलन, मृदा, वायु एवं जल की प्रकृति, जीव विस्तार एवं कटिबन्ध, जीवोम, अनुक्रमण इत्यादि का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

पारिस्थितिकी के विस्तृत क्षेत्र का अध्ययन करने के लिए यह परमावश्यक हो जाता है कि जीवों एवं पर्यावरण के बीच सम्बन्धों का अध्ययन किया जाये। प्राकृतिक परिस्थिति में विद्यमान पर्यावरण जीवधारियों को प्रभावित करता है और कुछ सीमा तक जीव भी पर्यावरण को प्रभावित करते हैं। प्रकृति में जीवों एवं पर्यावरण के सम्बन्धों को क्लीमेन्ट के अनुसार निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

क्रिया = आवास ↔ जीव

अभिक्रिया = जीव ↔ भौतिक कारक

सहक्रिया = जीव ↔ जीव

पारिस्थितिकी को जीवविज्ञान की एक शाखा के रूप में माना जा सकता है, जिसमें पेड़-पौधों एवं जीव-जन्तुओं तथा उनके पर्यावरणीय सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है, परन्तु पारिस्थितिकी को मात्र जीवविज्ञान की शाखा के रूप में निरूपित करना यथोचित नहीं होगा, क्योंकि आज पारिस्थितिकी के अध्ययन का जो स्वरूप एवं स्थिति है, उसे प्राप्त करने के लिए लगभग सभी विज्ञानों ने कुछ-न-कुछ योगदान किया है। जैसे– पारिस्थितिकी अथवा पर्यावरणीय कारकों के अध्ययन में भौतिकी, रसायनशास्त्र, भूगोल, भूगर्भशास्त्र, मृदा विज्ञान, मौसम विज्ञान इत्यादि का योगदान महत्त्वपूर्ण है। भूगोल एवं जीवाश्म विज्ञान ने पृथ्वी पर वर्तमानकाल एवं भूतकाल में जीवों के विस्तार एवं विकास का अध्ययन किया है। मृदा विज्ञान ने नाना प्रकार के जीवों का मृदा से सम्बन्ध बताया है। विभिन्न प्रकार के आँकड़ों को एकत्रित करने, उन्हें वर्गीकृत करने एवं विश्लेषित करने में गणित एवं उसकी शाखा सांख्यिकी का विशेष योगदान रहा है। मानव को एक जीवरूप में अध्ययन करने, उसके मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास करने। पर्यावरण को प्रभावित करने योग्य बनाने में मनोविज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र, मानवशास्त्र, सैन्यविज्ञान, वाणिज्य, विधि इत्यादि ने अपना परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष सहयोग दिया है। इस प्रकार समस्त विज्ञानों के मानव-पारिस्थितिकी के विकास में योगदान को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अत: यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि पारिस्थितिकी एक अन्तर अनुशासनात्मक विज्ञान है, जिसका क्षेत्र लगभग सभी विषयों एवं विज्ञानों से है। इस प्रकार पर्यावरण अथवा पारिस्थितिकी का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है और इसका सीमांकन करना अत्यन्त दुष्कर है।

प्रश्न 7. विद्यालय-संगठन के अर्थ, महत्त्व एवं विषय-क्षेत्र की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

उत्तर– विद्यालय संगठन से अभिप्राय उन सरकारी, अर्द्धसरकारी एवं अशासकीय संगठनों के सम्मिलित रूप से है, जो कुछ निश्चित दायित्व एवं अधिकार के साथ, शिक्षा के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए, निश्चित नियमों एवं विधानों के अन्तर्गत परस्पर मिलकर प्रयास करते हैं।

विद्यालय संगठन का एक निश्चित उद्देश्य होता है, जिसका मूल्यांकन उन उद्देश्यों की कसौटी पर ही किया जा सकता है। विद्यालय एक सामाजिक संस्था है। इसका संगठन कुछ निश्चित लक्ष्यों को लेकर किया जाता है।

विद्यालय संगठन का लक्ष्य शिक्षा की व्यवस्था से जुड़ा है। शिक्षा का लक्ष्य बालकों के व्यवहार (संज्ञानात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक) में वाञ्छित दिशा एवं स्तर में परिवर्तन लाना होता है। यह परिवर्तन उनकी व्यक्तिगत रुचि, अभिरुचि, योग्यता एवं आवश्यकता के साथ समाज एवं राज्य की आवश्यकता, आकांक्षा एवं जीवन से बँधा होता है। इन्हीं लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए यह संस्था संगठित होती है।

प्रभावपूर्ण एवं उपयोगी शिक्षा के लिए विद्यालय संगठन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विद्यालय एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा विद्यार्थियों का सर्वांगीण विकास होता है। विद्यालय संगठन के श्रेष्ठ होने पर ही उसमें दी जाने वाली शिक्षा वाञ्छित होगी और उसके द्वारा व्यक्तिगत और सामाजिक विकास सम्भव हो सकेगा।

'विद्यालय संगठन पर ही विद्यालय की क्रियाएँ एवं अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य निर्भर रहते हैं। विद्यालय संगठन के अभाव में उचित पाठ्यक्रम, विद्यालय की साज-सज्जा, समय-चक्र एवं अध्यापकों का समुचित समयोपयोग नहीं किया जा सकता है।

विद्यालय संगठन का एक मौलिक दर्शन होना चाहिए। विद्यालय का दर्शन उन उद्देश्यों से स्पष्ट होता है, जिन्हें विद्यालय अपने कार्य द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं। अतएव विद्यालय संगठन एक ऐसे मौलिक दर्शन पर आधारित होना चाहिए, जिससे विद्यालय को ऐसे उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके, जो विद्यालय को एक आदर्श शान्ति निकेतन के रूप में स्थिर रख सकें।

विद्यालय संगठन का महत्त्व

विद्यालय संगठन का महत्त्व उसके निम्न उद्देश्यों से स्पष्ट किया जा सकता है—

(1) विद्यालय संगठन के कुछ सुनिश्चित उद्देश्य होने चाहिए। इस उद्देश्य से छात्रों का शारीरिक, सामाजिक एवं नैतिक विकास होना चाहिए।

(2) छात्रों को शिक्षा देते समय उनके व्यक्तिगत विकास पर ध्यान रखना चाहिए और उनकी वैयक्तिक एकता स्थिर रखनी चाहिए। इससे तात्पर्य यह है कि छात्रों को शिक्षा सामूहिक रूप से ही नहीं देनी चाहिए वरन् उनकी व्यक्तिगत रुचियों, योग्यताओं एवं आवश्यकताओं पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए, जिससे उनका सर्वांगीण विकास सम्भव हो सके।

(3) पाठ्यक्रम को शिक्षा का साधन माना जाना चाहिए उद्देश्य नहीं अर्थात् पाठ्यक्रम छात्रों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही बनाया जाये तथा वह लचीला भी हो।

(4) विद्यालय संगठन ऐसा होना चाहिए कि इसके प्रत्येक सदस्य एवं समस्त साधनों का उपयोग पूर्णरूप से किया जा सके।

(5) विद्यालय संगठन ऐसा सक्षम होना चाहिए कि समस्त छात्र एवं अध्यापक एक दूसरे से मिल-जुलकर कार्य कर सकें।

(6) जनतन्त्रीय विधियों से विद्यालय विकास सम्बन्धी योजनाएँ एवं कार्यक्रम बनाये जायँ।

(7) प्रत्येक कार्यकर्त्ता की योग्यता एवं सीमाओं को ध्यान में रखकर ही सहयोगी कार्यक्रम बनाने चाहिए।

(8) जो कुछ भी शासन सम्बन्धी योजनाएँ एवं कार्यक्रम बनाये जायँ, वे विद्यालय के मौलिक दर्शन के अनुरूप होने चाहिए।

(9) विद्यालय शासन सम्बन्धी सम्पूर्ण भावना रूप से नैतिकतापूर्ण, आशावादी और सृजनात्मक कार्यक्रमों से परिपूर्ण होनी चाहिए।

विद्यालय संगठन का क्षेत्र

विद्यालय प्रशासन को इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए कि विद्यार्थियों को अच्छी शिक्षा मिले, विभिन्न प्रकार की अनेक क्रियाओं को सम्पन्न करना पड़ता है, जो क्रियाएँ इसके क्षेत्र में आती हैं उनका वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है–

(i) विद्यालय प्रशासन विद्यालय का वजट बनाता है और विद्यालय के लिए धन जुटाता है।

(ii) यह इस बात को देखता है कि धन का व्यय ठीक प्रकार से हो और सब प्रकार के व्यय का लेखा रखा जाय।

(iii) यह विद्यालय के लिए जगह का चुनाव करता है और उसे खरीदता है।

(iv) यह विद्यालय के भवन की योजना बनाता है, निर्माण कराता है और उसे पर्याप्त शिक्षा सम्बन्धी सामग्री से सुसज्जित करता है।

(v) यह इस बात को सुनिश्चित करता है कि विद्यालय अच्छे-से-अच्छे ढंग से कार्य करे और इसका भवन एवं अन्य स्थान पर उत्तम स्थिति में रहे। यदि भवन इत्यादि का भाग टूट जाता है या खराब हो जाता है, तो उसको तुरन्त ठीक करा देता है।

(vi) यह शिक्षकों के चुनाव, निर्देशन इत्यादि से सम्बन्धित रहता है और शिक्षकों एवं विद्यालय के अन्य कर्मचारियों को वेतन देता है तथा उनको प्रोन्नति देता है।

(vii) यह सेवाकाल में प्रशिक्षण का आयोजन करता है।

(viii) यह शिक्षकों के सहयोग को सुनिश्चित करता है और उनमें एकता की भावना का विकास करता है।

(ix) यह श्रव्य-दृश्य सामग्री का आयोजन करता है।

(x) यह पाठ्य-पुस्तकों का चुनाव करता है।

(xi) यह पाठ्यक्रम निर्माण में सहयोग देता है।

(xii) यह विद्यालय में स्वास्थ्य सेवा का आयोजन करता है।

(xiii) यह सहगामी क्रियाओं का आयोजन करता है।

(xiv) यह विद्यालय में विद्यार्थियों की गणना करता है और उनका इस प्रकार संगठन करता है कि उसका उपयोग हो सके।

(xv) यह विद्यार्थियों को विद्यालय में प्रतिदिन समय पर आने पर बल देता है और इसको सुनिश्चित करता है।

(xvi) यह शिक्षण कार्यक्रम का आयोजन करता है, ताकि प्रत्येक विद्यार्थी प्रगति करे।

(xvii) यह विद्यार्थियों के परीक्षण का आयोजन करता है तथा उनकी प्रगति का लेखा तैयार करता है।

(xviii) यह शिक्षकों एवं अन्य कर्मचारियों के कार्य का मूल्यांकन करता है।

(ix) यह विद्यार्थियों के निवेदन का आयोजन करता है।

(xx) यह समुदाय से सम्बन्ध स्थापित करता है और विद्यार्थियों के माता-पिता से सहयोग लेता है।

(xxi) यह विद्यालय के विभिन्न कार्यों इत्यादि का लेखा रखता है।

प्रश्न 8. विद्यालय एवं समुदाय के पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट कीजिए। विद्यालय की प्रगति में समुदाय की भूमिका को बताइए।

उत्तर– समुदाय और विद्यालय दोनों का जन्म साथ-साथ होता है और ये एक-दूसरे का अवलम्ब लेकर साथ-साथ अनवरत् प्रगति करते हैं। समुदाय विद्यालय की सहायता से और विद्यालय समुदाय की सहायता से प्रगति करता है। दोनों की प्रगति अन्योन्याश्रित होती है। राजनीतिक स्वार्थ इनके बीच खाईं अवश्य खोदता है, पर युग उसे पाटे बिना नहीं रहता।

डॉ० एल० मुखर्जी ने लिखा है– "आज यह अनुभव किया जा रहा है कि विद्यालय का कार्यक्षेत्र और अधिक विस्तृत होना चाहिए। इसका कार्य, परम्परा की रक्षा करना ही नहीं अपितु उसे कायम रखना और विकसित करना भी है। वह यह काम समाज से अलग रहकर नहीं कर सकता।"

विद्यालय और समुदाय के सम्बन्ध में मुदालियर आयोग (माध्यमिक शिक्षा आयोग 1952-53) ने अपने प्रतिवेदन में निम्न बातें कही हैं– "जो हम देखना चाहेंगे वह है दोहरे मार्ग का व्यापार ताकि जो समस्याएँ घर या सामाजिक जीवन में उत्पन्न होती हैं, जो यथार्थपूर्ण अनुभव वहाँ प्राप्त किये जाते हैं वे विद्यालय में लाये जायँ जिससे शिक्षा उन पर निर्भर की जा सके और वास्तविक जीवन से उसका सम्बन्ध जोड़ा जा सके। दूसरी ओर विद्यालय में प्राप्त किये गये नवीन ज्ञान, कौशल, दृष्टिकोण एवं मूल्यों को समाज में लाया जाये, जिससे समाज की समस्याओं का समाधान हो और उसका स्तर ऊँचा हो सके।"

आयोग ने इन पंक्तियों में विद्यालय और समाज के अमर सम्बन्धों की विवेचना निम्नलिखित रूपों में किया है–

1. विद्यालय बड़े समुदाय के बीच एक छोटा समुदाय है यानी वह बड़े समुदाय का एक लघु रूप होता है।

2. विद्यालय और समुदाय के बीच दोहरे रास्ते का सम्बन्ध होता है।

3. पहले रास्ते का रुख समुदाय से विद्यालय की ओर होता है यानी इससे समुदाय और परिवार की समस्याएँ एवं यथार्थ-अनुभव विद्यालय में आते हैं। इससे दो महत्त्वपूर्ण कार्य होता है–

(क) विद्यालय का समुदाय से सम्बन्ध स्थापित होता है।

(ख) विद्यालय के कार्य-क्षेत्र एवं अध्ययन-सामग्री की रूप-रेखा बनती है।

4. दूसरे रास्ते का रुख विद्यालय से समुदाय की ओर होता है, यानि विद्यालय द्वारा सामुदायिक एवं घरेलू जीवन की समस्याओं का समाधान, नयी मान्यताएँ, नये मूल्य और नये आविष्कार जो समुदाय के लिए उपयोगी होते हैं समुदाय में आते हैं।

5. इससे समुदाय का स्तर ऊपर उठता है और उसकी पूर्ववर्ती समस्याएँ हल होती हैं।

समुदाय अपनी प्रगति तथा समस्याओं के समाधान के लिए विद्यालय पर निर्भर करता है। यह निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है–

1. समुदाय की संस्कृति या सांस्कृतिक समस्याएँ एवं विद्यालय– संस्कृति का तात्पर्य होता है– समुदाय या समाज की जिन्दगी से। हर समाज का अपना आचार-विचार होता है। यह आचार-विचार ही उसकी संस्कृति होती है। आचार संस्कृति का व्यावहारिक पक्ष यानी सभ्यता से सम्बन्धित होता है। इसके अन्दर समाज के रहन-सहन, तौर-तरीके, रस्म-रिवाज

और इनमें प्रयुक्त होने वाली वस्तुएँ एवं साधन आते हैं और विचार के अन्दर समाज का जीवन-दर्शन, मान्यताएँ, प्रतिमान मूल्य और साहित्यिक एवं कलात्मक विचारों के पक्ष आते हैं। समाज इन सभी सांस्कृतिक तत्त्वों की प्रगति एवं समस्याओं के समाधान के लिए ही विद्यालयों का निर्माण करता है और विद्यालय–

(i) समाज की संस्कृति को शिक्षा के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करता है। यह हस्तान्तरण वह बिल्कुल अन्धा होकर नहीं करता, बल्कि युग की कसौटी पर उन्हें कसने के बाद ही करता है।

(ii) समाज की परम्परागत संस्कृति के उन तत्त्वों को जो युगानुकूल उपयोगी नहीं होते, विद्यालय उन्हें समाप्त भी करता है। ये ही सांस्कृतिक मान्यताएँ समाज में अन्धविश्वास और ढोंग का कारण होती हैं, जिनसे समाज की प्रगति रुकती है। जैसे– दहेज-प्रथा, बाल-विवाह, जाति एवं वर्गभेद तथा अनेक खर्चीले एवं तबाह करने वाले रस्म-रिवाज।

(iii) विद्यालय नये आविष्कारों के द्वारा समाज की सभ्यता को बढ़ाता है, जैसे– अनेक औद्योगिक एवं रहन-सहन से सम्बन्धित वैज्ञानिक साधन एवं उनसे बनी वस्तुएँ।

(iv) विद्यालय समाज को विश्व की अन्य संस्कृतियों के सम्पर्क में लाकर उनके उपयोगी तत्त्वों से उनको लाभान्वित कराता है।

2. समाज का व्यवसाय एवं व्यावसायिक समस्याएँ एवं विद्यालय– हर समाज का एक आधारभूत व्यवसाय होता है। इसी व्यवसाय के ऊपर समाज की आर्थिक दशा, रहन-सहन एवं प्रगति निर्भर करती है। विद्यालय समाज व्यावसायिक प्रगति के लिए निम्नलिखित कार्य करता है–

(i) व्यवसाय की प्रगति के लिए नयी तकनीक को जन्म देता है एवं दूसरे देशों की तकनीक का अध्ययन कर उनके उपयोग की दिशा निर्धारित करता है।

(ii) वह अनेकानेक वैज्ञानिक उपकरणों एवं यन्त्रों का आविष्कार एवं अध्ययन कर समाज को उससे लाभान्वित कराता है।

(iii) व्यापार की नयी सुविधाओं का अध्ययन कर समाज को उससे लाभान्वित करता है।

3. समाज का आर्थिक स्तर एवं आर्थिक समस्याएँ तथा विद्यालय– विद्यालय समाज की परिस्थितियों का अध्ययन कर उसके लिए अनुकूल आर्थिक विकास की दिशा निर्धारित करता है। वह मूल व्यवसाय के साथ-साथ समाज के लिए अन्य उद्योगों की सम्भाव्यता का पता लगाता है। इसके लिए हर तरह की समस्याओं का पता लगाता है और उनका समाधान ढूँढ़ता है।

विद्यालय विभिन्न प्रकार की शिक्षा देकर समाज के आर्थिक विकास में योग देने वाले कर्मचारियों का निर्माण करता है।

4. समाज की व्यवस्था और विद्यालय– हर समाज की अपने ढंग की व्यवस्था एवं संगठन होता है। किसी समाज का संगठन जाति-पाँति और वर्ग-भेद तथा धार्मिक परम्परा के अनुकूल होता है और किसी का कार्य एवं व्यवसाय के अनुसार। निस्संदेह इन व्यवसायों का समाज की प्रगति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जाति-पाँति के आधार पर व्यवस्थित परम्परानुगामी एवं रूढ़िवादी समाज का विकास उतना सम्भव नहीं जितना प्रगतिशील जनतान्त्रिक विचारों पर आधारित व्यवस्था वाले समाज का।

शिक्षा नयी पीढ़ी को नये ढंग से शिक्षित कर उसे प्रगतिशील जनतान्त्रिक व्यवस्था में योग देने योग्य बनाती है। वह नयी पीढ़ी को समाजशास्त्र का उचित ज्ञान कराकर तथा सामुदायिक जीवन की नयी मान्यताओं से परिचित कराकर नये ढंग से समाज को व्यवस्थित करने का प्रशिक्षण देता है।

5. समाज का मार्ग-दर्शन— विद्यालय प्रगतिशील शिक्षा के माध्यम से नयी पीढ़ी को आधुनिकीकरण की समस्याओं तथा समाधानों से परिचित कराकर उनमें समाज के मार्ग-दर्शन की क्षमता उत्पन्न करता है। जहाँ इस तरह की शिक्षा का अभाव है या जहाँ के विद्यालय समाज की ही तरह पिछड़े हुए हैं वहाँ प्रगति की कोई आशा नहीं की जा सकती। इसलिए विद्यालयों को चाहिए कि वे ऐसे नागरिकों का निर्माण करें जो समाज की आस्था प्राप्त कर सकें और जीवन के हर क्षेत्र एवं हर समस्या के समाधान में उनका सही मार्ग-दर्शन कर सकें।

विद्यालय की प्रगति और समुदाय

"जिस तरह समाज अपनी प्रगति के लिए विद्यालय पर निर्भर करता है उसी तरह विद्यालय भी अपनी प्रगति के लिए समाज पर निर्भर करते हैं, जो समाज पिछड़ा हुआ होगा निस्सन्देह वहाँ के विद्यालय भी पिछड़े हुए होंगे। विद्यालय की साधन-सम्पन्नता एवं आधुनिकता समाज की साधन- सम्पन्नता एवं आधुनिकता पर निर्भर करती है।" जैसा कि माध्यमिक शिक्षा आयोग के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि विद्यालय अपनी विषय-सामग्रियों एवं रूपरेखा के निर्माण के लिए समाज पर निर्भर करते हैं। यहाँ हम पहले रास्ते (जो समाज से विद्यालय की ओर उन्मुख होता है) पर नजर डालें तो बात स्पष्ट हो जायेगी। विद्यालय की सामाजिक निर्भरता को निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है—

1. चूँकि विद्यालय का उद्देश्य समाज की समस्याओं का समाधान कर उन्हें प्रगति के रास्ते पर लाना है इसलिए समाज की समस्याओं का विद्यालय की समस्या बन जाना स्वाभाविक है।

2. विद्यालय अपने लक्ष्यों का निर्धारण समाज की परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए करता है। गुलाम देश के विद्यालय भले ही राजनीति के हाथ की कठपुतली बनकर समाजेतर लक्ष्यों पर चलें, पर एक स्वतन्त्र देश के सर्वथा स्वतन्त्र विद्यालय कभी भी अपने लक्ष्य का निर्धारण समाज से अलग रहकर नहीं कर सकते।

3. जिस समाज की समस्याएँ जितनी ही पिछड़ी होती हैं उस देश का लक्ष्य भी उतना ही पीछे रहता है। जिस समाज ने अपनी रोटी, कपड़ा और मकान तक की समस्या हल नहीं किया है वहाँ के विद्यालय चन्द्र और मंगल ग्रह पर उड़ने का स्वप्न नहीं देख सकते।

4. ज्यों-ज्यों समाज की समस्याएँ हल होती जाती हैं और नयी समस्याएँ पैदा होती जाती हैं, त्यों-त्यों समाज की प्रगति में अविच्छिन्न रूप से जुड़े विद्यालय का भी आधुनिकीकरण होता जाता है।

5. विद्यालय अपनी पाठ्यचर्या या पाठ्यक्रम का गठन समाज की समस्याओं, आवश्यकताओं एवं व्यवस्थाओं के आधार पर करता है इसलिए उसके भाग्य का समाज के ऊपर निर्भर करना स्वाभाविक है।

6. समाज के जीवन का प्रभाव विद्यालय में चलने वाली क्रियाओं एवं संगठनों पर भी

पड़ता है। परम्पराग्रस्त समाज के विद्यालय भी परम्पराग्रस्त ही होंगे। भले ही वे समाज से सम्पर्क बनाते हुए धीरे-धीरे उसे परम्परामुक्त बनाकर स्वयं को परम्परा से मुक्त कर सकें।

7. विद्यालय का आर्थिक स्रोत प्रधान रूप से समाज ही होता है। इसलिए समाज की आर्थिक स्थिति का विद्यालय की स्थिति को प्रभावित करना अस्वाभाविक नहीं लगता। गरीब और पिछड़े समाज का पाठ्यक्रम कभी भी आधुनिक एवं प्रगतिशील नहीं हो सकता। विद्यालय के पाठ्यक्रम का आधुनिकीकरण जितने धन की अपेक्षा रखता है वह गरीब एवं पिछड़े समाज से सम्भव नहीं।

8. जाति-पाँति और सम्प्रदायों की अनुपयोगी मान्यताओं से ग्रस्त समाज का प्रभाव विद्यालय की दिनचर्या पर भी पड़ सकता है, क्योंकि समाज से दूर रहकर विद्यालय न तो समाज की आस्था प्राप्त कर सकते हैं और परिणामस्वरूप न ही उसका मार्ग-दर्शन कर सकते हैं।

9. विद्यालय के शैक्षणिक स्तर पर भी समाज की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है ठीक वैसे ही जलवायु का व्यक्ति के रूप-रंग पर। गरीब और पिछड़े समाज के विद्यालय का शैक्षणिक स्तर भी पिछड़ा हुआ होगा। एक तो समाज के सामान्य जीवन का उस पर प्रभाव पड़ेगा, दूसरे उसकी आर्थिक स्थिति का। विद्यालय का शैक्षणिक स्तर ऊपर उठाने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता होती है वह ऐसे विद्यालयों के पास सम्भव नहीं होगा। इसलिए विकसित समाज के विद्यालय जितना ऊँचा शैक्षणिक स्तर रखते हैं उतना साधारण समाज के नहीं।

10. चूँकि विद्यालय अपने वातावरण का निर्माण समाज के अनुसार करता है इसलिए उसके वातावरण पर भी समाज का प्रभाव पड़ सकता है। जे. बी. कोनेण्ट ने लिखा है कि— "किसी विद्यालय के विषय में निर्णय देने से पहले उन परिवारों का विश्लेषण करना चाहिए जहाँ से उसमें बच्चे आते हैं।"

स्पष्टत: विद्यालय की प्रगति समाज पर निर्भर करती है।

प्रश्न 9. प्रधानाध्यापक के गुणों से आप क्या समझते हैं? इसके वैयक्तिक गुणों का वर्णन कीजिए।

उत्तर— **प्रधानाध्यापक के गुण**

प्रधानाध्यापक का पद बहुत ही दायित्वपूर्ण है। प्राय: सभी शिक्षाशास्त्री इस विषय में एकमत हैं कि इस पद के दायित्वों का निर्वाह करने के लिए व्यक्ति में कुछ विशेष गुणों का होना आवश्यक है।

वार्ड जी. रीडर तथा ***ब्रे*** ने उत्तम व्यक्तित्व, चरित्र की शुद्धता एवं दृढ़ता तथा नेतृत्व-शक्ति पर अधिक बल दिया है। ***पी. रेन*** का कथन है— "प्रधानाध्यापक जन्मजात तथा निर्मित दोनों होता है। ऐसे कुछ गुण हैं जो प्रधानाध्यापक को प्रकृति से प्राप्त होते हैं, यथा— दृढ़ता, साधन-सम्पन्नता, हृदयस्पर्शिता तथा व्यक्तित्व-निर्माण की क्षमताएँ। परन्तु इन गुणों के होते हुए भी उसे अपने व्यवसाय के अध्ययन, अनुभव तथा दूसरों के आधार पर सीखकर एक आदर्श प्रधानाध्यापक बनना होता है।" उक्त विचारों के आधार पर प्रधानाध्यापक के गुणों का विवेचन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

(अ) वैयक्तिक गुण (ब) व्यावसायिक गुण

(स) प्रशासकीय गुण।

वैयक्तिक गुण

इसके अन्तर्गत प्रधानाध्यापक में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है–

1. उत्तम स्वास्थ्य एवं स्फूर्ति– परीक्षणों के द्वारा सिद्ध कर दिया गया है कि अच्छे स्वास्थ्य का अच्छे मस्तिष्क से उच्च प्रकार का सह-सम्बन्ध होता है। इसलिए प्रधानाध्यापक का स्वास्थ्य ही अच्छा नहीं होना चाहिए, वरन् उसमें जीवन-शक्ति या स्फूर्ति भी होनी चाहिए क्योंकि जीवन-शक्ति आशावादिता प्रदान करती है, अत: उसका सक्रिय एवं स्फूर्तिवान होना भी आवश्यक है।

2. अच्छी आदतें एवं व्यक्तिगत जीवन की शुद्धता– प्रधानाध्यापक को स्वयं अच्छी आदतों का निर्माण करना चाहिए। यदि उसमें अच्छी आदतें नहीं हैं, तो वह अपने छात्रों में अच्छी आदतों का निर्माण नहीं कर सकता। इसके साथ ही उसका व्यक्तिगत जीवन भी शुद्ध होना चाहिए। यदि उसका व्यक्तिगत जीवन अच्छा नहीं है, तो उसकी कुशलता एवं सफलता पर उसका बुरा प्रभाव पड़ेगा। उसे अपने व्यक्तिगत जीवन में अच्छा आचरण करना चाहिए। उसके सदैव उच्च आदर्शों को अपने समक्ष रखना चाहिए तथा उसके अनुसार अपने जीवन को व्यतीत करना चाहिए। उसे 'सादा जीवन उच्च विचार' के आदर्शों को ग्रहण करना चाहिए।

3. उच्च चरित्र– प्रधानाध्यापक का चरित्रवान होना आवश्यक है। यदि उसका चरित्र उच्च नहीं है, तो वह अपने विद्यालय के स्तर को कभी ऊँचा नहीं उठा पायेगा। उसके चरित्र पर ही सम्पूर्ण विद्यालय का चरित्र निर्भर है।

4. सहानुभूति की भावना– प्रधानाध्यापक में सहानुभूति की भावना का होना परम आवश्यक है। इसके अभाव में वह अपने मित्रों एवं सहयोगियों का विश्वासपात्र नहीं बन सकता और न उनका समस्त सहयोग प्राप्त कर सकता है और न ही शिक्षक तथा छात्र उसके समक्ष अपनी कठिनाइयों एवं समस्याओं को प्रस्तुत कर पायेंगे। यदि वह उनके प्रति सहानुभूति की भावना रखेगा तो वह उनका सफलतापूर्वक नेतृत्व करने में सफल होगा और वे सदैव उसको सहयोग देने के लिए तत्पर रहेंगे।

5. मानवीय सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता– प्रधानाध्यापक में मानवीय सम्बन्ध स्थापित करने की योग्यता का होना परम आवश्यक है। इसी योग्यता पर उसकी सफलता एवं असफलता निर्भर है, क्योंकि यदि वह शिक्षक-शिक्षक के बीच, छात्र-छात्र के बीच, शिक्षक एवं कर्मचारियों के बीच एवं अभिभावकों के बीच सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाता है, तो वह अपने विद्यालय का सुचारु रूप से संचालन करने में असमर्थ रहेगा, क्योंकि इन सभी के उपयुक्त सम्बन्धों पर ही विद्यालय की सफलता निर्भर है।

6. कार्यशील– विद्यालय के नेता को व्यावहारिक होना आवश्यक है। वह जिन सिद्धान्तों एवं आदर्शों को अपने छात्रों एवं सहयोगियों के समक्ष रखता है यदि वह उसके अनुसार स्वयं कार्य नहीं करता है तो उनका सफल नेतृत्व करने में असमर्थ रहेगा। अत: प्रधानाध्यापक को सदैव अपने छात्रों एवं सहयोगियों के समक्ष उदाहरण प्रस्तुत करने का प्रयास करना चाहिए।

7. नेतृत्व की क्षमता— प्रत्येक संगठन के संचालन के लिए योग्य नेता की आवश्यकता होती है। विद्यालय भी एक संगठित समाज है, जिसके संचालन के लिए योग्य नेता की आवश्यकता है। इस संगठित समाज का नेता प्रधानाध्यापक होता है। अत: प्रधानाध्यापक में नेतृत्व करने की क्षमता होनी चाहिए। प्रधानाध्यापक को ऐसे व्यक्तियों का नेतृत्व करना होता है, जो शैक्षिक योग्यता में प्राय: समान होते हैं। अत: उनके तथा सैनिकों के नेतृत्व में पर्याप्त अन्तर है। उसका नेतृत्व तभी सफल होगा, जब उसे अपने सहयोगी अनुगामियों का समस्त सहयोग प्राप्त होगा। ऐसा सहयोग प्राप्त करने के लिए उसे अधिनायक नहीं बनना है, बल्कि अपने साथियों की योग्यताओं तथा क्षमता में निष्ठा रखते हुए लोकतांत्रिक दृष्टिकोण को ग्रहण करना है।

प्रधानाध्यापक के नेतृत्व की सबसे बड़ी परख यह है कि उसमें अपने सहयोगियों, छात्रों तथा अभिभावकों को प्रेरित तथा पथ-प्रदर्शित करने की क्षमता है या नहीं। उसकी प्रेरणा-शक्ति से छात्र उन समस्त सुअवसरों का सदुपयोग करने में सफल हो सकते हैं, जो उन्हें विद्यालय में प्रदान किये गये हैं। इस शक्ति द्वारा प्रधानाध्यापक अपने सहयोगियों में जीवन का संचार कर सकता है तथा अभिभावकों एवं समाज के अन्य लोगों को अपने कर्त्तव्यों के प्रति सजग करके शिक्षा के हित को अत्यधिक लाभ पहुँचा सकता है।

8. बौद्धिक एवं संवेगात्मक गुण— प्रधानाध्यापक में निम्नलिखित बौद्धिक एवं संवेगात्मक गुण होने चाहिए—

(i) योजनाओं की व्याख्या करने की योग्यता
(ii) खोज की अभिवृत्ति
(iii) स्वयं की भूमिका के प्रति जागरूकता
(iv) परिश्रमी एवं अध्यवसायी (Industrous)
(v) उच्च बुद्धि-लब्धि
(vi) पहलकदमी की क्षमता
(vii) छात्रों तथा उनकी अभिवृद्धि का ज्ञान
(viii) सामाजिक समस्याओं का ज्ञान
(ix) साधन-सम्पन्नता
(x) सम्प्रेषण शक्ति
(xi) व्यक्तिगत विभिन्नताओं की समझदारी
(xii) विभिन्न विषयों का ज्ञान
(xiii) आधुनिकतम शिक्षा-सिद्धान्तों तथा व्यवहारों का ज्ञान
(xiv) अपनी स्वयं की कमियों को जानने की उत्सुकता एवं उनको दूर करने की क्षमताएँ।
(xv) संवेगात्मक रूप से स्थिर
(xvi) चिन्ता एवं संघर्षों से मुक्त
(xvii) उत्प्रेरित करने वाला
(xviii) आशावादिता
(xix) प्रेरणायुक्त।

9. व्यक्तिगत, सामाजिक एवं नैतिक गुण— एक सफल प्रधानाध्यापक में निम्नलिखित व्यक्तिगत, सामाजिक एवं नैतिक गुण होने चाहिए—

(i) चातुर्य
(ii) विश्वसनीय
(iii) सृजनात्मक
(iv) निष्पक्ष
(v) वस्तुपरक दृष्टिकोण
(vi) आत्मविश्वास
(vii) खुला मस्तिष्क
(viii) नियमित
(ix) दूसरे के व्यक्तित्व को आदर देना
(x) सहयोगी
(xi) दूसरों के प्रति सद् इच्छा रखने वाला
(xii) समाजीकृत नागरिक
(xiii) सहानुभूतिपूर्ण
(xiv) सुझावात्मक
(xv) ईमानदार
(xvi) समाज के प्रति सेवा भावना
(xvii) सच्चरित्र
(xviii) आत्म-नियंत्रण
(xix) आत्म-सम्मान
(xx) अपनी गलतियों को स्वीकार करने की तत्परता।

प्रश्न 10. योग का क्या अर्थ है? इसकी परिभाषा तथा लक्ष्य बताइए।

उत्तर— योग का अर्थ— मुख्यत: योग शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के युज धातु से हुई है जिसका अर्थ है मिलाना या जोड़ना। अर्थात् योग एक ऐसी कला है जो जीवन को भली- भाँति समझकर उसे परम पिता परमात्मा से मिलाने का मार्ग बताती है। योग हमारे जीवन के सर्भ पहलुओं का विकास करता है। विद्वानों ने योग के अर्थ के सम्बन्ध में अनेक परिभाषाएँ लिखं हैं। उनमें से कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

महर्षि पतंजलि के अनुसार— "मन की वृत्तियों को रोकना योग है अर्थात् चित्त कं चंचलता का दमन ही योग है।"

भागवतगीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है— "समत्वं योग उच्यते" अर्थात् परमात्म या जीवात्मा के एकीकरण का नाम योग है। आगे उन्होंने कहा है— "योग कर्मस कौशलम्" अर्थात् कार्य को कुशलतापूर्वक सम्भव करना योग है।

योग भाष्य के अनुसार— "योग: समाधि स च सार्वभौमिश्चत्तरय धर्म:" अर्थात् योग समाधि को कहते हैं जो चित्त का सार्वभौम धर्म है।

स्वामी शिवानन्द सरस्वती के अनुसार— "योग उस साधना प्रणाली का नाम है जिसके द्वारा जीवात्मा तथा परमात्मा की एकाग्रता का अनुभव होता है एवं जीवात्मा तथा परमात्मा के साथ ज्ञानपूर्वक संयोग होता है।"

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के अनुसार— "योग वह पुरातन पंथ है जो व्यक्ति को अन्धेरे से प्रकाश में लाता है।"

योग वशिष्ठ के अनुसार— "संसार सागर से पार होने की युक्ति को ही योग कहते हैं।"

योग राम चरक के अनुसार— "हम सभी अनन्त शक्ति के स्वामी हैं और इस शक्ति के इस रहस्य से परिचित कराने की कला योग विज्ञान में निहित है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि योग एक ऐसा साधन है जो आत्मा को परमात्मा से मिलाने का मार्ग प्रशस्त करता है। योग करने से मन एकाग्र होता है

तथा चित्त की चंचलता नियन्त्रित रहती है। इसके द्वारा व्यक्ति पाप कर्म करने से बचता है तथा अपने मन को शुद्ध रखकर पुण्य कर्म करने की ओर कदम बढ़ाता है। योग एक ऐसा उच्चकोटि का साधन है जो व्यक्ति को ऐसी ऊर्जा प्रदान करता है जिसके बल पर व्यक्ति प्रत्येक कार्य कुशलतापूर्वक सम्पादित करने के लिए उद्यत हो जाता है। उसके पश्चात् उसके समक्ष एक समय ऐसा आता है जब व्यक्ति अनन्त शक्ति को प्राप्त कर लेता है। यह योग ही है जो व्यक्ति को जीवन को समझने का ज्ञान प्रदान करता है। इससे व्यक्ति को प्रत्येक कार्य में सफलता प्राप्त होती है। वह कठिनाइयों पर हँसते-हँसते विजय प्राप्त कर लेता है। योग के द्वारा व्यक्ति मनोयोग से कार्य करने की विधि ग्रहण करता है और अन्त में वह मोक्ष प्राप्ति के लिए सफल साधन को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार योग एक ऐसा साधन है जिसको करने से व्यक्ति अपने जीवन को सुखी, सन्तोषी, एकाग्रचित वाला बनाकर दीर्घायु को प्राप्त कर सकता है। वह अपने जीवन के लक्ष्य मोक्ष अर्थात् परमेश्वर से एकीकरण को प्राप्त करने में सफलता प्राप्त कर सकता है।

योग के लक्ष्य– योग के लक्ष्यों का अध्ययन निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है–

1. योग का प्रथम लक्ष्य है– शारीरिक अंग-प्रत्यंगों की वृद्धि तथा विकास का मार्ग प्रशस्त करना।
2. योग करने से मानसिक शक्तियों को विकसित करने के उपयुक्त अवसर प्राप्त होते हैं।
3. योग मानसिक बीमारियों जैसे– भ्रम, तनाव, अशान्ति, अनिद्रा आदि को दूर करने में सहायता करता है।
4. शारीरिक रोगों से मुक्त दिलाना।
5. संवेगात्मक रूप से मन को स्थिर करके उसे सबल बनाने में सहायता करना।
6. व्यक्ति के आचरण का सुधार करना तथा उसे नैतिक और चारित्रिक रूप से सबल बनाना।
7. इन्द्रियों पर कैसे नियन्त्रण किया जा सकता है, इस दिशा में मनुष्यों की सहायता करना।

लाभ–

1. भजन, पूजा पाठ, स्वाध्याय मनन के लिए उपयोगी है।
2. प्राणायाम अभ्यासी के लिए विशेष उपयोगी आसन है।
3. चित्त स्थिर होता है।
4. मन बाह्य वृत्तियों को छोड़कर आन्तरिकता में रमने लगता है। बिना पद्मासन के प्राणायाम सिद्धि सम्भव नहीं।
5. पद्मासन के अभ्यास से कब्ज, बदहजमी तथा वायु-विकार दूर होता है। पाचन शक्ति बढ़ती है तथा जठराग्नि प्रदीप्त होती है।
6. घुटनों, जंघाओं और पैरों में असीम शक्ति आती है।

प्रश्न 11. शैक्षिक प्रशासन के आधारभूत सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।

उत्तर— शैक्षिक प्रशासन के आधारभूत सिद्धान्त

शैक्षिक प्रशासन के आधारभूत सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

1. व्यक्ति की महत्ता का सिद्धान्त— शिक्षा फाइल केन्द्रित न होकर व्यक्ति केन्द्रि होनी चाहिए, जिसके लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा द्वारा व्यक्तियों के शारीरिक, मानसि भावात्मक, आध्यात्मिक और सौन्दर्यात्मक गुणों का विकास किया जाये। बालक की प्राकृति शक्तियों, क्षमताओं, योग्यताओं तथा रुचियों आदि का ज्ञान प्राप्त कर विद्यालयों के पाठ्यक्र समय-सारणी, शिक्षण-विधियों, शैक्षिक-सामग्री, साज-सज्जा, फर्नीचर आदि का प्रब करने से व्यक्ति का सर्वांगीण विकास सम्भव है। इसके अतिरिक्त शैक्षिक प्रशासकों त क्षमताओं तथा रुचियों आदि का विकास करने से उनकी भी कार्यकुशलता का विका होगा।

2. शिक्षा-दर्शन पर आधारित— शिक्षा प्रशासन उचित शिक्षा-दर्शन पर आधारि होना चाहिए। दर्शन शिक्षा प्रशासन का पथ-प्रदर्शक है तथा उद्देश्यों का निर्धारण करता जिसके आधार पर विद्यालय का मार्गदर्शन होता है, जिससे वह उचित वातावरण उपस्थित व अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर सके।

3. प्रजातांत्रिक व्यवस्था के अनुरूप सिद्धान्त— शिक्षा का सारा कार्यक्रम त योजनाएँ देश के ढाँचे के आधार पर आधारित होती हैं। हमारा समाज जनतांत्रिक है। अ शैक्षिक प्रशासक को समाज के राजनीतिक ढाँचे के अनुरूप ही अपने उद्देश्यों, कार्यक्र योजनाओं तथा नीतियों को अपनाना चाहिए, तभी योजनाएँ सफल होंगी तथा देश और समा को लाभ पहुँचेगा और लोगों की आस्था भी उनमें रहेगी। अन्यथा वे सब कोरी कल्पना समान नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगी। इसलिए समानता और स्वतंत्रता के मूल सिद्धान्तों का पालन क जिससे छात्र, अध्यापक तथा प्रशासक अपना कार्य भली प्रकार निभा सकें और समाज विकास से सम्बन्धित सभी व्यक्तियों के ऊपर उत्तरदायित्व हो, जिससे वे अपने को सम्मानि समझें और कार्य में रुचि लें अन्यथा समाज की प्रगति नहीं हो पायेगी।

4. प्रयासों के समन्वय का सिद्धान्त— विद्यालय का प्रबन्ध इस प्रकार का हो चाहिए कि जितने व्यक्ति विद्यालयों से सम्बन्धित जैसे— प्रबन्धक, प्रधानाचार्य, अध्याप कार्यकारिणी के सदस्य, लिपिक तथा छात्र आदि सभी एकजुट होकर समन्वित रूप विद्यालय के लाभ के लिए प्रयत्न करें, जिससे स्कूल का सर्वांगीण विकास हो सके अलग-अलग ढंग से काम करने से किसी को भी सफलता न मिलेगी और विद्यालय त अहित होगा और उसका उत्तरदायी कोई एक न होगा, क्योंकि सब प्रयत्न भिन्न-भिन्न होंगे अ स्कूल अपने उद्देश्यों की प्राप्ति कभी प्राप्त न कर पायेगा। कहा भी गया है कि "United w Stand, divided we fall."

5. विद्यालयों के उद्देश्यों, नीतियों और कार्यक्रमों में एकरूपता का सिद्धान्त- विद्यालय का प्रशासन इस प्रकार किया जाये कि उसके नीतियों तथा कार्यक्रमों में किस प्रकार की रुकावट तथा बाधा न उत्पन्न होने पाये। अतः विद्यालय के प्रबन्धक या अधिका वर्ग को चाहिए कि वे अपने विद्यालय के लिए जो उद्देश्य तथा आदर्श निश्चित करें उसक

प्राप्ति के लिए वे लोग उसी के अनुरूप अपनी क्रियाओं, कार्यों तथा नीतियों का पालन करें, जिससे विद्यालय की उन्नति हो अन्यथा विद्यालय अपने लक्ष्यों तथा आदर्शों की प्राप्ति नहीं कर पायेगा।

6. **कार्यक्रम तथा नीतियों के निर्धारण में रचनात्मक तथा आशावादी दृष्टिकोण का सिद्धान्त**– विद्यालय के अधिकारी वर्ग जैसे– प्रबन्धक तथा प्रधानाचार्य को अपने कार्यक्रमों, नीतियों तथा योजनाओं में रचनात्मक और आशावादी सिद्धान्त रखना चाहिए, जिससे उनके छात्रों में भी वैसा ही विचार उत्पन्न हो, जिससे समाज और देश का लाभ हो।

7. **क्षमताओं के अनुसार कार्य विभाजन का सिद्धान्त**– प्रजातांत्रिक समाज में सबसे कठिन कार्य क्षमता के अनुसार कार्य विभाजन करना है। यदि इस कार्य को भली प्रकार न किया गया तो वह समाज-शिक्षा जगत् में कभी प्रगति नहीं कर सकेगा। अत: शैक्षिक-प्रशासक का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य हो जाता है कि वह शिक्षा से सम्बन्धित जैसे– प्रधानाचार्य, शिक्षक तथा प्रबन्धक आदि की क्षमता के अनुसार कार्य विभाजन करे, जिससे वे लोग अपने-अपने कर्त्तव्यों को पूर्णरूप से निभायें और यह तभी सम्भव होगा जबकि कार्य उनकी रुचियों, रुझान, योग्यता, क्षमताओं तथा उनके सम्मान व साथ ही मान-मर्यादा बनाये रखने वाले हों, जिससे किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो पाये।

8. **बालक प्रधान शैक्षिक प्रशासन का सिद्धान्त**–मनोविज्ञान की सहायता से अब बालक के मानसिक तथा प्राकृतिक शक्तियों का पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, जैसे– उसकी मूल प्रवृत्तियाँ, बुद्धि-लब्धि (I.Q.), क्षमताओं, रुचियों, योग्यता, स्मृति, कल्पना-शक्ति आदि की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं और तब विद्यालयों को पाठ्यक्रम, पाठन-विधि, समय विभाग चक्र, पाठ्य-पुस्तकें, शैक्षिक उपकरण, फर्नीचर आदि उसी के अनुसार बनायी जायें, जिससे बालक का सर्वांगीण विकास हो, जो कि आज की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है।

9. **सम्पूर्ण विद्यालय के विकास का सिद्धान्त**– स्कूल के प्रबन्धकों का यह प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए कि विद्यालय का विकास एकांगी न होकर सर्वांगीण हो। यदि ऐसा दृष्टिकोण न रखा गया तो विद्यालयों में ईर्ष्यापूर्ण भावना जाग्रत हो जायेगी, जिससे सम्पूर्ण विद्यालय का पतन हो जायेगा और वह अपने उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर पायेगा। अत: किसी कार्यक्रम को बनाने में यह ध्यान रखना चाहिए कि स्कूलों का सम्पूर्ण विकास हो।

10. **लचीलापन, स्थिरता तथा अनुकूलता के लिए स्थान**– विद्यालयों को ऐसा होना चाहिए कि आवश्यकताओं तथा उद्देश्यों के आधार पर प्रबन्ध तथा कार्यक्रमों में कठोरता न हो वरन् लचीलापन हो, जिससे समय के साथ परिवर्तन किया जा सके तथा ऐसा भी न हो कि उसमें कोई स्थिरता न हो, जब चाहा बदल दिया, वरन् समय की अनुकूलता के साथ परिवर्तनशील होना चाहिए, जिससे स्थानीय तथा राष्ट्रीय-हित को ध्यान में रखा जा सके।

11. **प्रचलित दार्शनिक विचारधारा का अनुकरण करने का सिद्धान्त**– किसी भी देश की दार्शनिक विचारधारा समय, काल तथा परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। शिक्षा का विकास करने, शिक्षा के निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने तथा उसकी समस्याओं के निराकरण हेतु दार्शनिक विचारों का सहारा लेना उपयोगी सिद्ध होगा। यदि शिक्षा के प्रशासन को भी प्रचलित दार्शनिक विचारधारा के अनुसार ढाल दिया जाये, तो शिक्षा की सम्पूर्ण प्रक्रिया से अधिकाधिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

'12. **शिक्षक-वर्ग की व्यावसायिक उन्नति का सिद्धान्त**— विद्यालय की उन्न अध्यापकों की कार्यकुशलता तथा योग्यता पर निर्भर करती है। अत: शैक्षिक प्रशासन व प्रमुख सिद्धान्त यह होना चाहिए कि अध्यापकों में व्यावसायिक योग्यता बढ़ाने के लिए स सुविधाएँ प्रदान की जायें। उनके लिए व्यावसायिक साहित्य का भी प्रबन्ध होना चाहिए त रिफ्रेशर कोर्स, सेमिनार, कन्वेशन आदि में भाग लेने के लिए पूरी छूट होनी चाहिए।

13. **व्यक्तित्व का विकास**— विद्यालयों का उद्देश्य न केवल शिक्षा प्रदान करना वरन् विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का विकास करना भी है, क्योंकि स्कूल विद्यार्थियों का सर्वांगी विकास करना चाहता है न कि एकांगी विकास करना। अत: स्कूलों में ऐसी क्रियाओं का संग तथा प्रबन्ध करें कि बालक उसमें भाग लेकर सभी पहलुओं का विकास कर सके, क्यों विद्यालयों में शिक्षा का सबसे प्रमुख उद्देश्य विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का विकास करना है।

14. **स्वास्थ्य, कुशलता तथा चरित्र निर्माण का सिद्धान्त**— सभी विद्यालयों प्रमुख सिद्धान्त है कि वे विद्यार्थियों का अच्छा स्वास्थ्य, सामाजिक तथा व्यावसायिक कुशल तथा चरित्र-निर्माण का प्रबन्ध करें, क्योंकि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क निवास क है। इसके लिए स्कूलों में खेलकूद, पी. टी. (P.T.), शारीरिक व्यायाम, दोपहर का नाश समय-समय पर डाक्टरी निरीक्षण तथा सफाई का प्रबन्ध हो।

15. **विद्यालयों के नीति निर्धारण तथा कार्यक्रमों के निर्माण में अध्यापकों त छात्रों का सहयोग**— विद्यालयों के कार्यक्रमों को अध्यापकों को ही करवाना पड़ता है। अ नीति निर्धारण कार्यक्रमों के निर्माण में यदि प्रबन्धक तथा प्रधानाचार्य ही नीतियों का निर्धा कर देंगे तो उसमें सफलता तब तक मिलने की सम्भावना नहीं रहेगी जब तक अध्याप सहयोग नहीं देगा। अध्यापक छात्रों से कार्य संचालन करवाता है इसलिए उनसे भी सहयो तथा विचार-विमर्श कर लेना चाहिए, क्योंकि आजकल छात्रों की सबसे प्रमुख माँग यही कि उनका भी प्रतिनिधि नीति निर्धारण में होना चाहिए, जो कि आज के प्रजातंत्र युग में प आवश्यक है। अत: प्रधानाचार्य या प्रबन्धक अपने मनमाने ढंग से नीति निर्धारण तथा कार्यक्र न बनायें वरंन् एक टीम के रूप में अध्यापक, छात्र तथा अभिभावक आदि का सहयोग ले चाहिए। इसका फल यह होगा कि सभी व्यक्ति अपने को सम्मानित समझेंगे तथा अपने-अप उत्तरदायित्व को सुचारु ढंग से निभाने की चेष्टा करेंगे।

प्रश्न 12. योग का अर्थ, योग के भेद योग का महत्त्व एवं उपयोगिता बताइए।

उत्तर— योग का अर्थ— मुख्यत: योग शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के युज् धातु से हुई है जिसका अर्थ है मिलाना या जोड़ना। अर्थात् योग एक ऐसी कला है, जो जीवन को भली-भाँ समझकर उसे परम पिता परमात्मा से मिलाने का मार्ग बताती है। योग हमारे जीवन के सभ पहलुओं का विकास करता है। विद्वानों ने योग के अर्थ के सम्बन्ध में अनेक परिभाषाएँ लिख हैं। उनमें से कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

महर्षि पतंजलि के अनुसार— "मन की वृत्तियों को रोकना योग है अर्थात् चित्त की चंचलता का दमन ही योग है।"

भगवत् गीता में भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार— "समत्वं योग उच्चते" अर्थात् परमात्मा या जीवात्मा के एकीकरण का नाम योग है। आगे उन्होंने कहा है— "योग कर्मसु कौशलम्" अर्थात् प्रत्येक कार्य को कुशलतापूर्वक सम्भव करना योग्य है।

योग के भेद— योगासन अर्थात् आसन का अर्थ है— स्थिति। जिस सुविधाजनक स्थिति में बैठकर योगाभ्यास सुगमता से हो सके, उसमें बैठकर अभ्यास में तत्पर होना ही आसन का उद्देश्य है और इसलिए योगाचार्यों ने अनेक प्रकार के आसनों की कल्पना की है, जिसमें से साधक अपने शरीर की स्थिति के अनुकूल प्रतीत होने वाले किसी भी आसन का प्रयोग कर सके। कुछ योगाचार्यों ने इनकी संख्या चौरासी मानी है। इनमें से 28 आसन ध्यानार्थ तथा 56 आसन रोगोपचार्थ माने हैं।

प्राय: शरीर के मुख्य दो भाग माने जाते हैं— **प्रथम**, स्थूल भाग जिसे शरीर कहते हैं तथा **द्वितीय**, सूक्ष्म भाग जिसे मन कहते हैं। इनके आधार पर आसनों को दो भागों में विभक्त किया जाता है—

(अ) व्यायामात्मक आसन,

(ब) ध्यानात्मक आसन।

(अ) व्यायामात्मक आसन— व्यायामात्मक आसन वे हैं, जो शरीर को सुडौल बनाते हैं। मांसपेशियों को दृढ़ बनाकर बल प्रदान करते हैं। साथ ही रोग निवारक शक्ति की वृद्धि करते हैं और मन को शान्ति प्रदान करते हैं। इनके द्वारा शरीर-मन पर प्रभाव डाला जाता है, जिससे मनोकायिक रोगों का उपचार सम्भव होता है। इनके अभ्यास से शरीर रोगों से बचा रहता है।

(ब) ध्यानात्मक आसन— ये आसन वे हैं, जिनमें बैठकर साधक ध्यान करते हैं। इनके अभ्यास से काम-वासना को उत्तेजित करने वाले केन्द्र वश में हो जाते हैं। उनकी तीव्रता समाप्त हो जाती है और काम पर विजय मिल जाती है। मन से विकार निकल जाते हैं और शान्ति उपलब्ध हो जाती है।

आसनों के अतिरिक्त तथा इनके साथ यौगिक क्रियाओं का भी बहुत महत्त्व है, क्योंकि इनके द्वारा शरीर के द्वार और अवयव स्वच्छ और शुद्ध किये जाते हैं। इनको घटकर्म कहा जाता है। ये हैं— नेति, वस्ति, नौलि, त्राटक, कृपालयति तथा धौति। ये विशेष अंगों से सम्बन्धित हैं। उदाहरणार्थ— दाँतों के लिए धौति, अन्तड़ियों तथा गुदा हेतु वस्ति, उदर के लिए नौलि, नेत्रों के लिए त्राटक, नासिका के लिए नेति आदि इन क्रियाओं के करने से मात्र शरीर ही नहीं, वरन् मन भी पवित्र होता है और चित्त साधना में रत होकर शान्ति की अनुभूति करता है।

योग का महत्त्व एवं उपयोगिता

मुख्यत: योग एक साधना है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने आपको भली-भाँति समझने का प्रयत्न करता है तथा एक विशिष्ट कला को सीखता है। योग की क्रियाएँ इतनी सरल, सटीक तथा उपयोगी हैं कि वे हमारे जीवन के सभी पहलुओं तथा विकास के सभी ढंगों को उचित रूप में प्रभावित करती हैं। इस दृष्टि से योग के महत्त्व तथा उसकी उपयोगिता का अध्ययन निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है—

1. शारीरिक महत्त्व— योग शरीर को सबल एवं हृष्ट-पुष्ट बनाने में हमारी सहायता करता है। इसके करने से शरीर के प्रत्येक अंग में कार्य करने की शक्ति आती है। मनुष्य इसके करने से बीमार नहीं पड़ता। शरीर ओजस्वी तथा कान्तिमय बनता है तथा व्यक्ति को कठिन-से-कठिन कार्य करने की प्रेरणा देता है। इस साधना से निम्नलिखित शारीरिक लाभ

प्राप्त हो सकते हैं—

(i) जब हम योग करते हैं, तो हमारी छाती में जमे हुए फेफड़े फैलते तथा सिकुड़ते हैं, जिससे शारीरिक शक्ति बढ़ती है। फेफड़ों में शुद्ध वायु (ऑक्सीजन) का संचरण होता है। इससे रक्त का संचार तथा शुद्धि दोनों स्वाभाविक रूप से होते रहते हैं।

(ii) योगाभ्यास करने से पाचन क्रिया नियंत्रित होती है। इससे शरीर को स्वस्थ रखने में पूर्ण सहायता मिलती है।

(iii) योग करने से शरीर का तापक्रम सहज तथा सामान्य रहता है। परिश्रम करने के पश्चात् भी जो पसीना निकलता है वह दुर्गंधपूर्ण नहीं होता है।

(iv) योग से रीढ़ की अस्थि तथा मांसपेशियाँ उचित रूप में गठीली हो जाती हैं तथा उन पर शरीर का नियंत्रण बना रहता है।

(v) योग रक्त के दबाव तथा हृदय की गति को प्रकृतिस्थ बनाये रखने में हमारी सहायता करता है।

(vi) इससे शारीरिक थकावट नहीं होती है। यह शनैः-शनैः शारीरिक शक्ति को प्राप्त करने एवं नीरोग रहने में हमारी पूर्ण सहायता करता है।

(vii) यदि किसी कारणवश शरीर में कोई रोग हो गया तो योग-साधना से रोग को दूर किया जा सकता है।

(viii) योग शरीर को रोगों, विषाणुओं और कीटाणुओं से लड़ने की शक्ति प्रदान करता है। रोग उत्पन्न करने वाले विकारों को यह मल-मूत्र के साथ-साथ बाहर निष्कासित करता रहता है।

(ix) यह शरीर की भीतरी नाड़ियों, नसों, अंगों, प्रणालियों आदि को स्वच्छ रखने में भी हमारी सहायता करता है। यह रक्त की नलिकाओं तथा कोशिकाओं को स्वच्छ करके हानिकारक तत्त्वों (पदार्थों) को शरीर में इकट्ठा नहीं होने देता।

(x) यह श्वसन क्रिया को नियंत्रित कर स्वाभाविक रूप से श्वास लेने व छोड़ने में हमारी मदद करता है।

(xi) यह शरीर में विविध प्रकार के रस-द्रव्यों को बनाता है तथा ग्रन्थियों को नियंत्रित करता है।

2. मानसिक महत्त्व— योग के द्वारा केवल शरीर ही हृष्ट-पुष्ट तथा नीरोग नहीं रहता है, वरन् इससे मानसिक स्वास्थ्य भी ठीक रहता है। योग मस्तिष्क में चेतना-शक्ति का विकास इस ढंग से करता है कि मानसिक पोषण की किरणें सम्पूर्ण मस्तिष्क में सूर्य के प्रकाश के समान फैलती हैं। इस दृष्टि से योग का मानसिक महत्त्व निम्नलिखित रूप में है—

(i) योग करने से मन की चंचलता पर नियंत्रण रहता है तथा चित्त में शान्ति रहती है। मानसिक विकास की धाराएँ— एकाग्रता, ध्यान, स्थिरता तथा एकरूपता मन में आती हैं। यदि नित्य-प्रतिदिन योगाभ्यास किया जाता है, तो संयम, साधना और समाधि से इन्हें उचित शक्ति मिलती है।

(ii) मन के विकार नष्ट होते हैं, मन शुद्ध होता है तथा पूर्वाग्रह समाप्त हो जाता है।

मति-भ्रम दूर होकर शारीरिक व मानसिक ऊर्जा मिलती है। जब मन स्वस्थ, शान्त तथा एकाग्र चित्त होता है, तो व्यक्ति का अध्ययन में मन लगता है। विचारशक्ति परिपक्व होती है। निरीक्षण शक्ति, कल्पना शक्ति तथा निर्णय लेने में तत्परता के भाव आते हैं।

(iii) योग साधना से धारणा शक्ति, ग्रहण करने की क्षमता, स्मरण शक्ति आदि की वृद्धि होती है।

(iv) इससे ज्ञानेन्द्रियों के चक्षु खुलते हैं। शरीर तथा मन में सबल एवं क्षमतायुक्त होने की ग्रहण शक्ति का विकास होता है। किसी भी बात को व्यक्ति देर तक स्मरण रखता है या भूलता नहीं है।

(v) यदि हमारा शरीर स्वस्थ रहता है, तो मन भी स्वस्थ व शान्त रहता है। योग के द्वारा सबल शरीर में उत्तम मस्तिष्क तथा ग्रहण करने की शक्ति की वृद्धि होती है। व्यक्ति में संवेदनशीलता रहती है।

3. सामाजिक महत्त्व— योग साधना का सामाजिक महत्त्व निम्नलिखित है—

(i) आज के युग में समाज की स्थिति बड़ी विचित्र हो गयी है। समाज के सामने मूल्यों, नैतिकता के मानदण्डों तथा परम्पराओं को बनाये रखने की समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं, जिनके कारण व्यक्ति, व्यक्ति का शत्रु बन गया है।

समाज में पारस्परिक वैमनस्य, ईर्ष्या, शत्रुता, घृणा आदि का वातावरण घर-घर में व्याप्त हो गया है, किन्तु यदि मानव चाहे तो उसे योग साधना के द्वारा सुधारा जा सकता है और प्रेम, सहयोग, सहानुभूति, शान्ति, संयम तथा सहिष्णुता की धारा प्रवाहित की जा सकती है। व्यक्ति योग साधना से ही सुखानुभूति प्राप्त कर सकता है।

(ii) इस समय विश्व में अतिभौतिकवाद ने भारतीय समाज की उदात्त व्यवस्था को खोखला बना दिया है। परन्तु योग साधना के द्वारा भौतिक सुखों को प्राप्त करने की अन्धी दौड़ से बचा जा सकता है।

स्वार्थपरता को त्यागकर परोपकार तथा सहयोग की भावना को जाग्रत किया जा सकता है। इस प्रकार एक सुखी तथा शान्त समाज की रचना की जा सकती है।

(iii) समाज में अनेक प्रकार की बुराइयाँ फैली हुई हैं, जैसे— छल, कपट, विश्वासघात, नशीली वस्तुओं का सेवन, घूस, हिंसा, मारकाट, कालाबाजारी, साम्प्रदायिकता, विषयों में आसक्ति आदि को योग साधना द्वारा दूर किया जा सकता है।

प्रश्न 13. मानसिक स्वास्थ्य से आप क्या समझते हैं? मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले कारकों का उल्लेख करते हुए ठीक करने में अध्यापक की भूमिका का वर्णन कीजिए।

उत्तर— मानसिक श्रम करने के लिए तथा भौतिक एवं मानसिक परिस्थितियों से समायोजन स्थापित करने के लिए व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य का अच्छा होना आवश्यक है। मानसिक स्वास्थ्य का सम्बन्ध मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान से है। मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान के अन्तर्गत मानसिक स्वास्थ्य का संरक्षण, मानसिक रोगों के रोकथाम एवं प्रारम्भिक उपचार आदि का अध्ययन करते हैं।

मानसिक स्वास्थ्य का अर्थ स्पष्ट करते हुए हैडफील्ड महोदय ने लिखा है—"व्यक्ति के अन्दर अनेक इच्छाएँ, रुचियाँ, उत्तेजक धारणाएँ एवं व्यवहार प्रक्रियाएँ हैं। इनमें से कुछ जन्मजात होती हैं और कुछ को वह परिवेश से अर्जित करता है। इन सबके सुसंगठित होकर किसी व्यापक उद्देश्य की ओर उन्मुख होने पर ही व्यक्तित्व का उचित विकास होता है।"

प्राय: जब हम किसी ऐसे व्यक्ति को देखते हैं, जिसका शारीरिक गठन अच्छा होता है, समाज में मान-सम्मान होता है और आर्थिक रूप से भी वह सम्पन्न होता है, तो उसे मानसिक रूप से स्वस्थ समझने की भारी भूल करते हैं। यद्यपि निर्विवाद रूप से ये गुण मानसिक स्वास्थ्य के ही अंग हैं, किन्तु एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह आवश्यक नहीं कि सुगठित शरीर वाला, कार्य-कुशल और सम्पन्न व्यक्ति अथवा उच्च चरित्र वाला व्यक्ति मानसिक रूप से भी स्वस्थ हो। ऐसे बहुत से लोग होते हैं जो अपने कार्य में कुशल होते हैं, आर्थिक रूप से भी सम्पन्न होते हैं और उन्हें कोई शारीरिक कष्ट भी नहीं होता अर्थात् हर तरफ से वे जीवन में सफल से लगते हैं। किन्तु वास्तव में ऐसे लोग भी सदैव मानसिक रूप से स्वस्थ नहीं होते, क्योंकि उन्हें भी नाना प्रकार की चिन्ताओं, दु:खों और मानसिक द्वन्द्वों का सामना करना पड़ता है। वे अपने संवेगों और इच्छाओं आदि पर नियन्त्रण नहीं रख पाते और विभिन्न मानसिक विकारों के शिकार रहते हैं।

मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति के निम्नलिखित प्रमुख लक्षण प्रस्तुत किये जाते हैं—

1. मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति में नवीन सामाजिक परिस्थितियों के साथ शीघ्र ही समायोजन स्थापित कर लेने की शक्ति निहित होती है।
2. वह अपने लक्ष्य की पूर्ति में सफलता प्राप्त करता है।
3. उसका व्यक्तित्व सन्तुलित एवं सर्वांगीण विकास पूर्ण होता है।
4. वह अपने व्यवसाय से सन्तुष्ट रहता है।
5. उनकी इच्छाशक्ति दृढ़ होती है और समस्त कार्य आत्मविश्वास के साथ करते हैं।
6. उसमें प्रचुर मात्रा में सामाजिकता की भावना दिखायी पड़ती है।
7. मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति अपनी इच्छाशक्ति और संवेगों को सुनियन्त्रित रखता है।
8. वह अपने समाज तथा समुदाय के नियमों, रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं के अनुसार ही कार्य करता है।

मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले कारक

मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले कारकों में निम्न की भूमिका महत्त्वपूर्ण है—

1. आनुवंशिक कारण— मानसिक स्वास्थ्य में आनुवंशिकता को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। विद्वानों में मानसिक दुर्बलता को आनुवंशिक कारणों से सम्बद्ध बताया है। यद्यपि सम्बन्ध में सभी विद्वान एकमत नहीं हैं।

2. सामाजिक कारण— सामाजिक कारणों को निम्न तीन भागों में विभाजित किया ज सकता है—

(क) परिवार से सम्बन्धित कारण— इसके अन्तर्गत निम्न कारक महत्त्वपूर्ण मा गये हैं—

(i) माता-पिता की अत्यधिक ममता का प्रभाव बालक में आत्मनिर्भरता की भाव

को विकसित नहीं होने देता। जिससे कालान्तर में ऐसे बालकों में चिन्ता, असन्तोष आदि की भावना फैल जाती है, उनमें भावात्मक निर्बलता आ जाती है और उनका मानसिक सन्तुलन बिगड़ जाता है।

(ii) माता-पिता घृणात्मक प्रवृत्ति से बालकों में हीनता ग्रन्थि विकसित हो जाती है और वे अपने को अयोग्य समझने लगते हैं। इससे बालकों में बदला लेने की प्रवृत्ति विकसित हो जाती है।

(iii) माता-पिता द्वारा किये जाने वाले पक्षपात के कारण बालकों में ईर्ष्या, द्वेष, घृणा और बदला लेने की प्रवृत्ति विकसित होती है।

(iv) माता-पिता के अत्यधिक ऊँचे नैतिक आदर्शों से बालक प्रभावित होता है। वह दबाव में कामचोरी करने लगता है। उसमें आत्महीनता की भावना पैदा होती है।

(v) परिवार की निर्धनता का प्रभाव— बचपन में बच्चों की निर्धनता उनके विकास को कुण्ठित कर देती है। इससे बच्चों में अभावग्रस्त व तनाव के कारण उनके व्यक्तित्व में व्यग्रता एवं कठोरता उत्पन्न हो जाती है।

(ख) विद्यालय से सम्बन्धित कारक— बालक के मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले विद्यालय से सम्बन्धित कारक निम्न हैं—

(i) अनुपयुक्त पाठ्यक्रम (ii) अनुपयुक्त शिक्षण पद्धतियाँ

(iii) कक्षा के कठोर नियन्त्रण का प्रभाव

(iv) शिक्षक के व्यक्तित्व का प्रभाव।

(ग) समाज से सम्बन्धित कारक— बालक के मानसिक विकास पर उसके समाज का बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। जो समाज या समुदाय असंगठित व विच्छिन्न होते हैं, उनमें बालकों का मानसिक स्वास्थ्य अच्छा नहीं रह पाता है। इस प्रकार के समाज में सदैव कलह का वातावरण मौजूद रहता है। इस प्रकार के समाज में पलने वाले बालकों में संवेगात्मक अस्थिरता, ईर्ष्या, द्वेष, कलह और दुश्चारित्रता आदि दुर्गुण स्थान बना लेते हैं, जो बालकों के मानसिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होते हैं।

3. मनोवैज्ञानिक कारण— निम्नलिखित मनोवैज्ञानिक कारक बालकों में प्रत्यक्ष रूप से मानसिक अस्वस्थता उत्पन्न करते हैं। ये कारण निम्नलिखित हैं—

(i) तीव्र मानसिक संघर्ष— सामान्यत: हर व्यक्ति के जीवन में संघर्षपूर्ण स्थितियाँ आती हैं। जबकि वह दो सामान्य लक्ष्यों में से चुनाव करने में मानसिक कठिनाई का अनुभव करता है। किन्तु यही संघर्ष जब स्थायी रूप ले लेता है, तो व्यक्ति में मानसिक विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(ii) तीव्र संवेगात्मक तनाव— जब व्यक्ति अपने संवेगों पर नियन्त्रण नहीं कर पाता और उनमें तीव्रता उत्पन्न हो जाती है, तो उसका मानसिक सन्तुलन गड़बड़ हो जाता है। धीरे-धीरे वह स्थायी रूप धारण कर लेता है, जिससे व्यक्ति में मानसिक विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(iii) दमित भावना ग्रन्थियाँ— विभिन्न परिस्थितियों के फलस्वरूप व्यक्ति में उनसे सम्बन्धित भावना ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, किन्तु व्यक्ति अपने को समायोजित दिखाने के लिए उनका दमन कर देता है। भावना ग्रन्थियाँ दमन करने से खत्म नहीं होती। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से वे प्रकट होकर मानसिक अस्वस्थता को बढ़ाती हैं।

(iv) हीनता की भावना ग्रन्थि— एडलर के अनुसार मानसिक विकारों की उत्पत्ति हीनता की भावना ग्रन्थियों के फलस्वरूप ही होती है।

उपर्युक्त कारकों के अतिरिक्त अन्य बहुत ऐसे कारण हैं, जो बालकों के मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालते हैं।

मानसिक स्वास्थ्य को ठीक रखने में अध्यापक की भूमिका

बालकों के माता-पिता विद्यालय एवं उसे स्वयं को अपनी मानसिक अस्वस्थता के रोकथाम की उपर्युक्त विधियों का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् जहाँ तक हो सके ऐसा अवसर ही नहीं आने देना चाहिए कि बालक का मानसिक स्वास्थ्य खराब हो। किन्तु यदि वे किसी प्रकार के मानसिक रोग से ग्रसित हो गये तो शिक्षकों द्वारा उनका पूर्ण निराकरण कठिन है। उसके लिए मनोचिकित्सक की आवश्यकता पड़ेगी। नीचे कुछ मनोविज्ञान उपचारात्मक विधियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं, जिनका प्रयोग कुशल शिक्षक साधारण मानसिक रोगों के लिए कर सकते हैं—

1. सुझाव— रोगी किसी भी प्रकार का हो शारीरिक अथवा मानसिक उसका आधा रोग तभी दूर हो जाता है, जबकि उसमें आत्मविश्वास उत्पन्न हो जाये या करा दिया जाये कि अब वह अच्छा हो रहा है। व्यक्ति की संवेगात्मक, तनावपूर्ण एवं संघर्ष युक्त समस्याओं को सुलझाने से सम्बन्धित सुझाव देने से व्यक्ति में विश्वास या आस्था ही नहीं उत्पन्न होती बल्कि उसमें आत्म-निर्णय एवं आत्म-निर्देश की क्षमता भी आती है।

2. पुनर्शिक्षण— पुनर्शिक्षण का अर्थ है व्यक्ति को उसकी गलतियों तथा उनके बुरे परिणामों से अवगत कराना तथा उसे जीवन के आदर्शों, नियमों, मान्यताओं, दृष्टिकोणों आदि में परिवर्तन करने में सहायता प्रदान करना, जिससे कि वह अपने को वातावरण के साथ भलीभाँति अभियोजित कर पाने में समर्थ हो सके। पुनर्शिक्षण में मनोविकृत व्यक्ति को उचित परामर्श और निर्देशन आदि देकर उसमें आत्मविश्वास उत्पन्न कराने का प्रयास किया जाता है तथा व्यवहारों और संवेगों पर नियन्त्रण करना सिखाया जाता है।

3. युक्तिपूर्ण तर्क— मानसिक रूप से अस्वस्थ व्यक्ति के समक्ष विभिन्न प्रकार के युक्तिपूर्ण तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं, जिससे कि वह अपनी समस्याओं के सम्बन्ध में अन्तर्दृष्टि अपना सके और उसको स्वयं ही सुचारु रूप से सुलझा सके।

4. सामूहिक चिकित्सा— सामूहिक चिकित्सा में दस से तीस तक मानसिक अस्वस्थ व्यक्तियों को एक साथ रहने, उठने बैठने, बोलने चालने आदि का अवसर प्रदान किया जाता है। इस प्रकार वे एक-दूसरे के व्यवहार से परिचित हो जाते हैं और एक-दूसरे के समस्याओं की जानकारी प्राप्त करते हैं तथा उन पर विचार-विमर्श करते हैं। इसके परिणामस्वरूप उनमें आत्म-विश्वास जाग्रत होता है, सामाजिक असुरक्षा की भावना एवं हीनता की भावना समाप्त होने लगती है और उसका मानसिक स्वास्थ्य सुधरने लगता है।

5. मनो-अभिनय— जैसा कि हमें यह ज्ञात है कि मानसिक रोगों के मूल में व्यक्ति की बहुत-सी दमित इच्छाएँ एवं अव्यक्त संवेग होते हैं और यदि इन्हें व्यक्त होने का अवसर

प्रदान किया जाये तो मानसिक स्वास्थ्य में अच्छा सुधार हो सकता है। मनो-अभिनय में व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार भूमिका चुनकर अभिनय करने का अवसर दिया जाता है। इसमें उसकी बहुत-सी दमित इच्छाओं और संवेगों का प्रकटीकरण हो जाता है, वे अपनी व्यवहार सम्बन्धी समस्याओं को व्यक्त करते हैं। व्यक्त करने से इन पर कुछ नियन्त्रण हो जाता है। कुछ दिनों तक इसी क्रिया का पुनरावर्तन करते रहने से उसके मानसिक स्वास्थ्य में सुधार होने लगता है।

6. **व्यावसायिक चिकित्सा—** इस विधि के द्वारा व्यक्ति को किसी-न-किसी प्रकार के कार्य चटाई बुनना, कुर्सी बुनना, लकड़ी का काम, कपड़ा बुनना, सूत कातना आदि में लगा दिया जाता है। काम में लगकर वह अपनी मानसिक चिन्ताओं को भूलने लगता है। उसमें आत्म-सम्मान की भावना जाग्रत होती है, हीनता की भावना ग्रन्थि समाप्त होने लगती हैं और जीवन सामान्य एवं उपयोगी मालूम पड़ने लगता है। इस प्रकार उसका मानसिक स्वास्थ्य सुधरने लगता है।

7. **क्रीड़ा-चिकित्सा—** इस विधि में बालकों को विभिन्न प्रकार के खेल खेलने के अवसर प्रदान किये जाते हैं। खेल के समय उनके दमित संवेगों को प्रकट होने का अवसर प्राप्त होता है, भावना ग्रन्थियों के सुलझने का अवसर प्राप्त होता है, उनकी पाशविक प्रवृत्तियों का रेचन होता है, मानसिक चिन्ताएँ एवं संघर्ष दूर हो जाते हैं। इतना ही नहीं खेल द्वारा उनकी अतृप्त इच्छाओं की तृप्ति हो जाती है। इस प्रकार उनके समायोजन में सहायता मिलती है और मानसिक अस्वस्थता दूर होने लगती है।

8. **परिवेश में परिवर्तन—** कभी-कभी बालक के मानसिक अस्वास्थ्य का कारण एक विशेष परिवेश होता है। ऐसी स्थिति में उसके परिवेश में परिवर्तन करके उसकी समस्या को दूर किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई बालक अपने पारिवारिक परिवेश के कारण मानसिक-विकासग्रस्त हो गया है तो उसे छात्रावास या किसी अन्य परिवेश में रखने से उसकी समस्या दूर हो सकती है और वह पुन: सामान्य हालत में लौट सकता है।

9. **स्थानापन्न क्रियाओं के माध्यम से शोधन—** व्यक्ति की संवेगात्मक उत्तेजनाओं का दमन करके उनका किसी स्थानापन्न क्रिया के माध्यम से संशोधन करने का प्रयास किया जाना चाहिए। इस विधि में व्यक्ति की अनुपयुक्त क्रियाओं को किसी उचित एवं अहानिकर क्रिया की ओर मोड़ने का प्रयास किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि कोई बालक काम सम्बन्धी कोई असामाजिक क्रिया करते हैं तो उसे संगीत, कला, अभिनय अथवा किसी अन्य रचनात्मक कार्यों में व्यस्त किया जा सकता है।

प्रश्न 14. मनुष्य के शरीर क्रिया विज्ञान से आप क्या समझते हैं ? मानव शरीर के प्रमुख अंग तंत्रों का वर्णन कीजिए।

उत्तर— मानव शरीर रूपी मशीन अनेक कार्य करती है जैसे— भोजन का पाचन, श्वसन, उत्सर्जन आदि। इन क्रियाओं के सुचारु रूप से क्रियान्वयन में शरीर रूपी मशीन में व्यवस्थित अनेक अंग निरन्तर क्रियाशील रहते हैं। वह विज्ञान जो इस मशीन की संरचना के बारे में जानकारी देता है। मशीन के अन्दर व्यवस्थित विभिन्न अंगों का अध्ययन कराता है,

उसे शरीर रचना विज्ञान कहते हैं। शरीर रचना विज्ञान के अन्तर्गत शरीर के विभिन्न अंगों तथा उनके परस्पर सम्बन्ध का अध्ययन किया जाता है।

शरीर क्रिया विज्ञान

शरीर क्रिया विज्ञान के अन्तर्गत शरीर के विभिन्न अंगों की रचनाओं एवं उनकी कार्य-प्रणाली का अध्ययन किया जाता है—

(1) स्थूल रचना— इस रचना के आधार पर शरीर को 3 मुख्य स्थूल भागों में बाँटा गया है— (1) सिर, (2) धड़, (3) शाखाएँ।

शरीर का ऊपरी भाग सिर कहलाता है जिसके दो भाग होते हैं— (i) चेहरा (ii) कपाल। चेहरे में आँख, कान, नाक, मुँह आदि अंग होते हैं तथा कपाल के अन्दर मस्तिष्क सुरक्षित रहता हैं। सिर गर्दन द्वारा शरीर के दूसरे भाग धड़ से जुड़ा रहता है।

गर्दन के नीचे और टांगों के ऊपर का सम्पूर्ण भाग धड़ कहलाता है। धड़ में एक बड़ी गुहा होती है जिसे 'मध्यपट या डायफ्राम' कहते हैं। यह धड़ को अन्दर दो भांगों में विभाजित करती है। ऊपर का हिस्सा वक्षस्थल कहलाता है जिसमें अनेक महत्त्वपूर्ण अंग जैसे- फेफड़े, श्वास नली, आहार नली, हृदय तथा उसकी विशाल रक्त वाहिकाएँ होती हैं। डायफ्राम के नीचे का हिस्सा 'उदर' कहलाता है जिसमें डायफ्राम के ठीक नीचे दाहिनी ओर यकृत तथा बायीं ओर आमाशय तथा प्लीहा होते हैं। आमाशय के नीचे छोटी आँत तथा छोटी आँत के चारों ओर बड़ी आँत होती है। इसके पीछे दो गुर्दे होते हैं जो कशेरुका दण्ड के दोनों ओर व्यवस्थित रहते हैं। उदर का निचला भाग 'श्रोणि गुहा' कहलाता है जिसमें प्रजनन अंग तथा मूत्राशय और मलाशय होते हैं। श्रोणि गुहा एक और रस्सीनुमा संरचना होती है जो अस्थियों की बनी होती है। इसे मेरुरज्जु कहते हैं। इसके ऊपरी भाग में मस्तिष्क होता है।

शरीर का तीसरा भाग शाखाएँ हैं जो धड़ के ऊपरी और निचले हिस्से में जुड़ी रहती हैं। ऊपरी शाखाएँ 'भुजाएँ' तथा निचली शाखाएँ 'जंघाएँ' कहलाती हैं।

(2) सूक्ष्म रचना— शरीर की यह सूक्ष्म रचना साधारण आँख से दिखायी नहीं देती, इसे सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से देखना पड़ता है। इस रचना के दो आधार होते हैं—

(अ) कोशिका— यह शरीर रचना में प्रयुक्त सबसे छोटी इकाई है। जीवन का प्रारम्भ इसी इकाई से होता है।

(ब) ऊतक— एक ही कोशिकाओं के समूह को ऊतक कहते हैं। एक ही प्रकार की कोशिकाएँ मिलकर एक विशेष समूह के ऊतक बनाती हैं। इन ऊतकों से मिलकर शरीर के विभिन्न अंग बने हैं। शरीर के एक ही अंग में अलग-अलग प्रकार के ऊतक पाये जाते हैं। शरीर में मुख्य 4 प्रकार के ऊतक पाये जाते हैं—

(i) उपकला ऊतक (ii) पेशीय ऊतक

(iii) संयोजक ऊतक (iv) तन्त्रिका ऊतक।

(3) अन्तःक्रिया की रचना— विभिन्न प्रकार के ऊतक मिलकर शरीर के विभिन भागों का निर्माण करते हैं। जिन्हें अंग कहते हैं। शरीर के विभिन्न अंग मिलकर शरीर की किसी क्रिया विशेष को पूर्ण करते हैं। उस क्रिया विशेष में जो अंग भाग लेते हैं वे सब अंग मिलकर तन्त्र के नाम से जाने जाते हैं।

शरीर के विभिन्न तन्त्र— शरीर के विभिन्न तन्त्र निम्न हैं—

1. कंकाल तन्त्र— कंकाल तन्त्र में सम्पूर्ण अस्थियाँ सम्मिलित रहती हैं। शरीर में छोटी, लम्बी, चपटी तथा टेढ़ी-मेढ़ी कई अस्थियाँ होती हैं, जो पेशियों से ढकी रहती हैं। अस्थियों के बने इस ढाँचे को ही कंकाल कहते हैं। इस तन्त्र में मानव शरीर की अस्थियों का ढाँचा और अस्थियों के जोड़ आते हैं। अस्थियों के साथ ही शरीर के समस्त अंगों का सम्बन्ध रहता है और अस्थियों के कारण भिन्न-भिन्न अंगों के भिन्न-भिन्न रूप होते हैं। सम्पूर्ण शरीर में छोटी-बड़ी कुल 206 अलग-अलग अस्थियाँ रहती हैं। सम्पूर्ण अस्थियों का वजन कुल भार का 1/16 होता है। बच्चे के अस्थि कंकाल में अस्थियों की संख्या अधिक रहती है और आयु के क्रमिक विकास के साथ वे आपस में जुड़ती जाती हैं और उनकी संख्या कम हो जाती है।

2. पेशी तन्त्र— हमारे शरीर में त्वचा के नीचे मांस होता है, जो पेशी ऊतकों का बना रहता है। शरीर के लिए पेशियाँ उतनी ही आवश्यक हैं जितनी अस्थियाँ। त्वचा के नीचे अस्थियाँ या पेशियाँ मढ़ी रहती हैं। इन पेशियों के भीतर शरीर के कोमल अंग जैसे— आमाशय, आहार नाल, हृदय, आन्त्र, मूत्राशय आदि भी पेशी ऊतकों से बने हुए हैं। सम्पूर्ण शरीर में विभिन्न प्रकार की 500 से अधिक पेशियाँ हैं। इन पेशियों के कारण ही हम शरीर के अंगों को चलाते-फिराते तथा हिलाते-डुलाते रहते हैं। पेशियाँ छूने में कोमल होती हैं। पेशियों की आकृति भी शरीर के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न होती है। पेशियाँ ही शरीर को सुन्दर और सुडौल बनाती हैं। शरीर के प्रत्येक कार्य में पेशियाँ ही गतिशील होती हैं। पेशियाँ शरीर को दृढ़ तथा शक्तिशाली बनाती हैं। इन पेशियों का निर्माण कई पर्तों के रूप में होता है। पेशियाँ शरीर को गर्मी प्रदान करती हैं। इनकी आकृति शरीर के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है।

3. पाचन तन्त्र— मानव-शरीर को भोजन की निरन्तर आवश्यकता होती है। भोजन में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, खनिज लवण, जल और विभिन्न प्रकार के विटामिन आदि पोषक तत्त्व पाये जाते हैं। पाचक नाल में इन पोषक तत्त्वों की यांत्रिक और रासायनिक अभिक्रिया होती है। भोजन की पाचन-क्रिया मुँह से ही आरम्भ होती है। यांत्रिक अभिक्रिया के दौरान दाँत, जीभ की सहायता से भोजन को टुकड़े-टुकड़े कर पीस डालता है। रासायनिक अभिक्रिया के अन्तर्गत लार-ग्रंथियों से लार निकलकर भोजन में मिलता रहता है। इसके बाद भोजन, भोजन-नली के माध्यम से आमाशय (Stomach) में आ जाता है। आमाशय की भीतरी सतह पर छोटी-छोटी ग्रंथियाँ रहती हैं, जिनसे एक प्रकार का तीव्र आम्लिक रस निकलता है। भोजन आमाशयिक रस में मिलकर गाढ़ा माड़ जैसा पदार्थ बन जाता है। इसके बाद यह पक्वाशय (Duodenum) में आ जाता है। यहाँ पर इसमें यकृत से पित्त, अग्न्याशय से अग्न्याशयिक रस तथा इन्सुलिन आकर मिलते हैं। पक्वाशय के बाद भोजन छोटी आँत में उतरता है। इसमें पचे भोजन का शोषण तथा अनपचे अंश का पाचन, दोनों ही होता है। इसकी दीवारों से भी रस निकलता है, जिसे आंत्र रस कहते हैं। जो अनपचे भाग को अमीनो अम्ल में परिवर्तित कर देता है। इसके बाद भोजन बड़ी आँत में आता है, जो अपशिष्ट पदार्थों का जलीय अंश अवशोषित कर लेती है और शेष भाग को मल के रूप में मलाशय में भेज देती है।

4. परिसंचरण तन्त्र— परिसंचरण तन्त्र वह तन्त्र है जो शुद्ध रक्त को सम्पूर्ण शरीर में परिसंचरित करता है। इस क्रिया में हृदय तथा धमनियाँ, कोशिकाएँ और शिराएँ प्रमुख रूप से भाग लेती हैं। ये रक्त वाहिकाएँ हैं जो सम्पूर्ण शरीर में फैली हुई हैं। परिसंचरण का प्रमुख साधन रक्त है, जो हृदय की पम्प क्रिया द्वारा सारे शरीर में प्रवाहित होकर शरीर के विभिन्न ऊतकों तक ऑक्सीजन तथा पौष्टिक तत्त्वों को पहुँचाता है और ऊतकों द्वारा उत्पन्न व्यर्थ पदार्थों को एकत्रित करता हुआ विभिन्न उत्सर्जी अंगों में भेज देता है। अंगों से प्राप्त अशुद्ध रक्त शिराओं द्वारा पहले हृदय के दायें भाग में पहुँचाता है वहाँ से फुफ्फुसीय धमनी द्वारा फेफड़ों में भेज दिया जाता है। फेफड़ों में ऑक्सीजन के सम्पर्क में आकर रक्त शुद्ध हो जाता है और रक्त द्वारा त्यागी गयी कार्बन-डाई-ऑक्साइड को फेफड़े ग्रहण कर श्वसन क्रिया द्वारा बाहर निकाल देते हैं।

लसिका तन्त्र भी परिसंचरण तंत्र का ही एक अंग है। लसिका एक रंगहीन द्रव्य है जो रक्त के कोशिकाओं की पतली दीवारों से छनकर तन्तुओं में जाता है। रक्त के समान ही यह द्रव्य लसिका वाहिनियों द्वारा ऊतकों में परिसंचरित होता है।

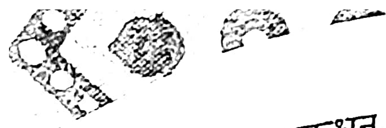
5. तन्त्रिका तंत्र— सभी में विभिन्न तन्त्र पाये जाते हैं। इन संस्थाओं की सामंजस्यता को बनाये रखने के लिए तन्त्रिका तन्त्र एक कुशल व्यवस्थापक एवं प्रतिभा सम्पन्न नियन्त्रक के रूप में कार्य करता है। अत: वह संस्थान जिसके अन्तर्गत मस्तिष्क न्यूरॉन्स नाड़ी एवं अन्य नाड़ियाँ आदि शरीर की क्रिया को सुचारु रूप से संचालित, नियमित एवं नियन्त्रित होने हेतु भाग लेती हैं तन्त्रिका तन्त्र कहलाता है। शरीर रूपी जटिल तन्त्र के विभिन्न अंगों के सामंजस्य को बनाये रखना तथा उन पर नियन्त्रण रखना तन्त्रिका तन्त्र का काम है। यह शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण तन्त्र है जिसके अधीन सभी तन्त्र रहते हैं। शरीर में असंख्य कोशिकाएँ एक छोर से दूसरे छोर तक फैली रहती हैं, जिन पर तन्त्रिका तन्त्र नियन्त्रण रखता है। इसी तन्त्र द्वारा वाह्य जगत् की सूचनाएँ या शरीर में उत्पन्न संवेदनाएँ मस्तिष्क तक पहुँचती हैं।

6. लसिका तन्त्र— परिसंचरण तन्त्र का लसिका तन्त्र से अटूट सम्बन्ध है। इसे परिसंचरण तन्त्र का सहायक अंग कहते हैं। हमारे शरीर में लसिका का जाल रक्त वाहिनियों के समान फैला होता है, जिसके भीतर सफेद रंग का तरल द्रव्य पाया जाता है, क्योंकि इनके द्वारा विषैला पदार्थ रक्त में नहीं आने पाता है। लसिका के अन्दर जो श्वेत तरल द्रव्य होता है, वह ऊतकों को प्राप्त होता है।

7. उत्सर्जन तन्त्र— वृक्कीय नलिकाओं से प्रवाहित होते समय जलीय विघटन से बने अवशिष्ट पदार्थ से मूत्र बन जाता है, जो मूत्राशय में चला जाता है जहाँ से मूत्र मार्ग द्वारा शरीर से बाहर निकल जाता है।

8. अन्त:स्रावी तन्त्र— अन्त:स्रावी ग्रन्थियों में उन ग्रन्थियों से निकलने वाले स्राव जो बिना किसी नलिका की मदद के सीधे खून में पहुँचकर शामिल किये जाते हैं। इन ग्रन्थियों को नलिकाविहीन ग्रन्थि कहा जाता है। यह ग्रन्थियाँ शरीर के विभिन्न भागों में पायी जाती हैं।

9. श्वसन तन्त्र— श्वसन तन्त्र वह तन्त्र है जो मानव जीवन के अस्तित्व को बनाये रखता है। श्वसन क्रिया में कुछ मिनट का अवरोध होने पर ही जीवन लीला समाप्त हो जाती है। इस तन्त्र के अन्तर्गत नाक, ग्रसनी (गला), श्वास नलिका, श्वसनियाँ तथा फेफड़े आते हैं।



प्रश्न 15. स्वास्थ्य शिक्षा के लक्ष्य एवं उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।

उत्तर–

स्वास्थ्य शिक्षा के लक्ष्य एवं उद्देश्य

स्वास्थ्य शिक्षा के कुछ प्रमुख लक्ष्य इस प्रकार हैं–

1. स्वास्थ्य शिक्षा का लक्ष्य व्यक्ति को सामूहिक जीवनयापन हेतु तैयार करना है।
2. स्वास्थ्य शिक्षा का लक्ष्य मनुष्य के चरित्र को ऊँचा उठाना है।
3. स्वास्थ्य शिक्षा का लक्ष्य सहनशीलता, परस्पर सहयोग तथा किसी व्यक्ति का मानसिक दृष्टि से अध्ययन करना है।
4. स्वास्थ्य शिक्षा व्यक्ति को समय का सदुपयोग करना सिखाती है।
5. स्वास्थ्य शिक्षा मनुष्य के मनोरंजन का साधन भी है।
6. स्वास्थ्य शिक्षा का लक्ष्य अच्छे स्वास्थ्य के आदर्श स्थापित करना है।
7. स्वास्थ्य शिक्षा का लक्ष्य अच्छे पर्यावरण का निर्माण करना है।

स्वास्थ्य शिक्षा के लक्ष्यों को ग्रहण करने हेतु हमें कुछ उद्देश्यों का पालन करना पड़ता है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु हमें निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान देना पड़ता है–

1. विद्यार्थियों के स्वास्थ्य का पूर्ण परीक्षण– स्वास्थ्य शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है– विद्यार्थियों के विभिन्न अंगों की परीक्षा करना ताकि शरीर में यदि किसी वात की कमी है या कोई दोष है तो उसे पूर्ण किया जा सके।

2. स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं का ज्ञान– स्वास्थ्य शिक्षा के द्वारा व्यक्ति को अपने जीवन को सुरम्य बनाने के लिए स्वास्थ्य सम्बन्धी सिद्धान्तों की जानकारी दी जाती है। व्यक्ति को इसके द्वारा यह वताया जाता है कि जीवन में स्वास्थ्य कितना महत्त्वपूर्ण है।

3. स्वास्थ्य निरीक्षण तथा निर्देशन– अध्यापकों को विद्यार्थियों के कपड़े तथा सामान्य स्वास्थ्य का निरीक्षण नियमित रूप से करना चाहिए। अध्यापकों को विद्यार्थी की मनोवृत्ति, अवस्था तथा उसकी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उसमें सुधार करने के लिए निर्देश देना चाहिए जिससे विद्यार्थी सफलतापूर्वक अपनी कमियों को पूरा कर सके।

4. प्रत्येक विद्यार्थी के स्वास्थ्य को अच्छा बनाने का प्रयास– स्वास्थ्य शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य होता है– प्रत्येक विद्यार्थी के स्वास्थ्य को अच्छा से अच्छा बनाने का प्रयास करना। हमें इस वात को सदैव ही ध्यान में रखना चाहिए कि वहुत से लोग अस्वस्थ इस कारण रहते हैं, क्योंकि उन्हें स्वस्थ रहने का प्रशिक्षण कभी मिला ही नहीं होता है।

5. संक्रामक रोगों से बचाव– संक्रामक और संगति रोग गन्दे वातावरण के कारण उत्पन्न होते हैं तथा शरीर को क्षति पहुँचाते हैं। इनकी रोकथाम के लिए पहले उसके वारे में जानना आवश्यक है कि वे किन कारणों से होते हैं, कितने दिनों के होते हैं व उनसे कैसे वचा जा सकता है।

6. अच्छी स्वस्थ अभिवृत्तियों का विकास– शिक्षकों को स्वास्थ्य रक्षा के नियमों का ज्ञान होना आवश्यक है ताकि वे विद्यार्थियों को पूर्ण स्वस्थ होने के लिए एवं अच्छी आदतों को ग्रहण करने के लिए कुछ बता सकें। विद्यालय का अच्छा वातावरण वनाने के लिए

विद्यालय की स्थिति, विद्यालय की स्वच्छता, वायु और प्रकाश की व्यवस्था, उपयुक्त फर्नीचर, विद्यालय का कार्यक्रम आदि विद्यार्थियों के स्वास्थ्य पर प्रभाव डालते हैं।

7. प्राथमिक चिकित्सा का ज्ञान देना और उसका अभ्यास करना— विद्यालय में खेलते समय, व्यायाम करते समय, अस्थिभंग, चोट, जल जाना, मोच आ जाना आदि घटनाएँ साधारणतः ही हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में अध्यापक को प्राथमिक सहायता के लिए तैयार रहना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में अध्यापक को पूर्ण जानकारी तो रखनी ही चाहिए, साथ ही उसे इस दिशा में दक्ष भी होना चाहिए। ऐसी घटनाओं से बुरी तरह आहत बच्चों को डाक्टर के पास ले जाना चाहिए।

8. यह शिक्षकों तथा विद्यालय के अन्य कर्मचारियों के स्वास्थ्य को भी उन्नत बनाने में सहायता देता है।

9. अभिभावकों एवं समाज के अन्य सदस्यों को स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों व सिद्धान्तों से अवगत कराना।

प्रश्न 16. शिक्षा के क्षेत्र में उ. प्र. के प्रशासनिक ढाँचे की व्याख्या कीजिए।

उत्तर— उ. प्र. सरकार की शैक्षिक प्रशासकीय संरचना

उत्तर प्रदेश भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण राज्य है। यद्यपि यह प्रदेश कृषि, राजनीति आदि क्षेत्रों में काफी आगे है, किन्तु शैक्षिक दृष्टि से यह अपेक्षाकृतः काफी पीछे है। इस राज्य की शिक्षा के प्रशासकीय ढाँचे में समय-समय पर परिवर्तन किये गये हैं। यहाँ शिक्षा विभाग के कार्य के समुचित संचालन के लिए एक सचिवालय की व्यवस्था की गयी है। सचिवालय में एक सचिव, एक सह-सचिव, एक उपसचिव तथा अन्य कर्मचारी कार्य करते हैं।

शिक्षामन्त्री के कार्यों को दो भागों में बाँटा गया है—

(1) वैधानिक कार्य,

(2) प्रशासन सम्बन्धी कार्य।

वैधानिक कार्यों में सहायता हेतु शिक्षामन्त्री के लिए एक सभा सचिव की व्यवस्था की गयी है। प्रशासनिक कार्यों में सहयोग के लिए अनुभाग व राज्य शिक्षा विभाग के अन्य कर्मचारी रहते हैं। राज्य सरकार के शिक्षामन्त्री व उसके सभी सचिव वैतनिक पदाधिकारी होते हैं। पर वे अपने पद पर स्थायी नहीं होते और मन्त्रिमण्डल में परिवर्तन होने पर उनका कार्य समाप्त हो जाता है।

सामान्यतः सचिव द्वारा शिक्षामन्त्री के कार्यों का प्रसारण किया जाता है। सचिवालय के अन्य कर्मचारी आय-व्यय विषयक वार्षिक बजट तैयार करते हैं।

राज्य शिक्षा की प्रगति के सुझाव हेतु एक समिति होती है, जिसमें विधान सभा व विधान परिषद के सदस्य होते हैं।

उक्त अधिकारियों के अलावा राज्य के शिक्षा विभाग में निम्न विशेष पदाधिकारी होते हैं—

(1) शिक्षा निदेशक— राज्यीय शिक्षा विभाग में शिक्षा निदेशक का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उत्तर प्रदेश में प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्चशिक्षा विभाग के लिए अ

अलग-अलग शिक्षा निदेशकों की व्यवस्था की गयी है। यह शिक्षा विभाग का स्थायी कर्मचारी होता है और शिक्षामन्त्री व सचिव उसके परामर्श से कार्य करते हैं। शिक्षा निदेशक शिक्षा विभाग का अनुभव प्राप्त व्यक्ति होता है और शिक्षा सम्बन्धी प्रस्ताव के द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं।

(2) **उपशिक्षा निदेशक**— शिक्षा निदेशकों के कार्य में सहायता हेतु उपशिक्षा निदेशकों की नियुक्ति की गयी है। यह उपशिक्षा निदेशक प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्च सभी प्रकार की शिक्षा के लिए नियुक्त किये गये हैं।

(3) **जिला विद्यालय निरीक्षक**— राज्य में माध्यमिक शिक्षा हेतु जिला स्तर पर कार्य सम्पादन हेतु जिला विद्यालय निरीक्षकों की नियुक्ति की जाती है। वह जिले की शिक्षा का सबसे बड़ा अधिकारी होता है।

मण्डल स्तर पर शिक्षा व्यवस्था— शिक्षण कार्य के समुचित संचालन के लिए सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश को मेरठ, आगरा, बरेली, इलाहाबाद, वाराणसी, गोरखपुर, उत्तराखण्ड और लखनऊ आठ मण्डलों में विभक्त किया गया है। इन मण्डलों में शिक्षा संचालकों की व्यवस्था की गयी है। बालिकाओं की शिक्षा व्यवस्था के लिए एक निरीक्षका होती है, जो अपने मण्डल के प्रायः वही अधिकार रखती है, जो उपशिक्षा संचालक को प्राप्त है।

ज़िला विद्यालय निरीक्षक— प्रत्येक जिले की शिक्षा का उत्तरदायित्व जिला विद्यालय निरीक्षक पर होता है। वह जिले के प्रमुख माध्यमिक विद्यालयों का निरीक्षण करता है। साथ ही प्राथमिक विद्यालय की प्रगति पर भी ध्यान रखता है।

ज़िले में ज़िला विद्यालय निरीक्षक के अलावा जिले में 5 या 6 उपजिला विद्यालय निरीक्षक भी होते हैं। बालिकाओं के विद्यालय के लिए भी निरीक्षकों की व्यवस्था की जाती है।

राज्य शिक्षा से सम्बन्धित निकाय— उत्तर प्रदेश में राज्य शिक्षा से सम्बन्धित प्रमुख निकाय निम्नलिखित हैं—

(1) **माध्यमिक शिक्षा परिषद्**— इसकी स्थापना सन् 1921 में एक अधिनियम के तहत की गयी, जिसमें संशोधन 1958 में किया गया। इसका कार्य राज्य के माध्यमिक व हाईस्कूल विद्यालयों के पाठ्यक्रमों का निर्धारण करना व उनकी परीक्षाओं की व्यवस्था करना होता है। माध्यमिक शिक्षा निदेशक उसका प्रदेश अध्यक्ष होता है। कार्य के समुचित संचालन के लिए शिक्षा सचिव, संयुक्त उपसचिव आदि भी होते हैं।

(2) **विश्वविद्यालय अनुदान समिति**— इस समिति के सदस्य राज्य द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। ये उच्चकोटि के शिक्षाविद् होते हैं। यह समिति विश्वविद्यालयों या उनसे सम्बन्धित महाविद्यालयों को सहायता अनुदान प्रदान करती है।

(3) **क्षेत्रीय पंच निर्णय मण्डल**— माध्यमिक विद्यालयों में अध्यापकों और प्रबन्ध समितियों के बीच जो विवाद उत्पन्न होते हैं, उन पर निर्णय देने के लिए क्षेत्रीय पंच निर्णय मण्डलों की व्यवस्था की गयी है। इसमें तीन सदस्य होते हैं। क्षेत्रीय उपशिक्षा निदेशक इसका सदस्य होता है।

(4) **प्राथमिक शिक्षा का प्रशासन**— उत्तर प्रदेश में प्राथमिक शिक्षा का प्रान्तीयकरण कर दिया गया है। इस प्रकार प्राथमिक शिक्षा की सारी जिम्मेदारी राज्य सरकार

की हो गयी है। अधिकतर विद्यालय नगर निगमों, नगरपालिकाओं और जिला-परिषदों द्वारा ही चलाये जाते हैं। राज्य प्रशासन भी कुछ विद्यालयों का प्रबन्ध करता है।

(5) माध्यमिक शिक्षा का प्रशासन— माध्यमिक विद्यालयों का प्रशासन राज्य शिक्षा विभाग और माध्यमिक शिक्षा परिषद् दोनों के अधीन है। शिक्षा-विभाग इन विद्यालयों की व्यवस्था करता है। वेतन भुगतान राज्य सरकार के हाथ में है।

माध्यमिक शिक्षा परिषद् परीक्षाओं का संचालन करती है। राजकीय विद्यालयों का प्रबन्ध समितियाँ करती हैं। इन प्रबन्ध समितियों पर भी राज्य का पूर्ण नियन्त्रण रहता है।

(6) विश्वविद्यालयीय शिक्षा का प्रबन्ध— उत्तर प्रदेश में अलीगढ़ और वाराणसी विश्वविद्यालय को छोड़कर सभी विश्वविद्यालय राज्य सरकार के नियन्त्रण में हैं। उत्तर प्रदेश के विश्वविद्यालयों में कानपुर, आगरा, इलाहाबाद, लखनऊ, वाराणसी, मेरठ, गोरखपुर, पंतनगर, रुड़की, अवध, पूर्वांचल और काशीविद्यापीठ है। इसके अतिरिक्त गुरुकुल कांगड़ी को विश्वविद्यालय स्तरीय शिक्षा के स्तर के रूप में स्वीकार किया गया है। अन्य विश्वविद्यालयों की स्थापना भी हो रही है।

प्रश्न 17. पर्यावरण प्रदूषण कितने प्रकार का होता है? इसके प्रमुख स्रोतों के बारे में विवेचना कीजिए।

उत्तर— प्रदूषण उस प्रक्रिया को कहते हैं, जिससे पर्यावरण के एक अथवा अनेक घटकों में ऐसे भौतिक, रासायनिक अथवा जैविक परिवर्तन हो जाते हैं, जिससे इन घटकों की गुणवत्ता एवं उपयोगिता में विपरीत प्रभाव पड़ता है। ज़ल, थल एवं वायु प्रदूषण के अलावा पर्यावरण प्रदूषण के अन्य प्रकार भी हैं, जैसे— (1) ध्वनि प्रदूषण। (2) दृश्य प्रदूषण। जो अत्यन्त चकाचौंध और अरुचिकर रंगों वाले प्रकाश से तथा दीवारों, सड़कों के चौरस्तों एवं अन्य सार्वजनिक स्थलों पर भौड़े पोस्टरों एवं विज्ञापनों के जरिये होता है। (3) दुर्गंध प्रदूषण रासायनिक अपशिष्टों, अत्यधिक मोटर, रेल वाहनों से निष्कासित धुओं, बड़ी-बड़ी मिलों, भट्टियों इत्यादि की चिमनियों से निष्कासित धुआँ एवं गन्दे पानी तथा कूड़े-कचरे की सड़न से पैदा हुई गैस के कारण होता है। (4) मानसिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक प्रदूषण की स्थिति भी हमारे मानवीय जीवन के मूल्यों में दिनों-दिन ह्रास का कारण बनती जा रही है।

वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद्, नयी दिल्ली के भूतपूर्व महानिदेशक वैज्ञानिक ***डॉ. आत्माराम के शब्दों में—*** "जिन्दगी में रहन-सहन में सादगी आये तो फिर फिजूल की चीजें बनाने वाले कारखाने कम होंगे और उनसे पैदा होने वाला प्रदूषण भी कम होगा। मुट्ठीभर लोगों को सकल ऐश्वर्य उपलब्ध कराने के बजाय सबको रोटी, कपड़ा, मकान और पेयजल दिलवाना ही हमारा लक्ष्य हो, तो हम प्रकृति को कम-से-कम पीड़ित करते हुए प्रगति कर सकेंगे। इस प्रकार का ऐश्वर्य बड़े देशों की संस्कृति है। क्या जरूरत है कि अमेरिकी परिवार का हर आदमी कार रखे और पेट्रोल फूँककर हवा में प्रदूषण भरे? शान-ए-शौकत कम करें तो ऐशो-आराम की चीजें बनाने वाले कल-कारखाने कम हों। अधिक उपयोग की लालसा प्रदूषण का सबसे बड़ा कारण है।

(अ) वायु प्रदूषण– कल-कारखानों, उद्योग-धन्धों, यातायात साधनों आदि से वायु की उपयोगिता कम होती है। जीवन के लिए वायु आवश्यक है। श्वसन के दौरान जो वायु हम बाहर निकालते हैं, उसे पेड़-पौधे ग्रहण कर अपना भोजन बनाते हैं।

जनसंख्या की अनपेक्षित वृद्धि, पेड़ों और वनों का अनावश्यक कटाव, बढ़ते हुए यातायात के साधन, औद्योगिक विकास और बढ़ते हुए कल-कारखानों के फलस्वरूप वायु में लगातार अपशिष्ट गैसें, धुएँ और धूल के कणों में वृद्धि होती जा रही है तथा ऑक्सीजन की कमी होती जा रही है, जिससे वायु प्रदूषण हो रहा है। इस प्रकार "शुद्ध वायु के सामान्य गठन में गुणात्मक या मात्रात्मक परिवर्तन ही वायु प्रदूषण कहलाता है।"

वायु प्रदूषण के कारण– वायु प्रदूषण के निम्नलिखित कारण हैं–

1. घरों, भट्ठियों और कारखानों में ईंधन का जलना,
2. औद्योगिक अपशिष्ट (कण और गैस),
3. यातायात वाहनों से निकला हुआ धुआँ,
4. पेड़ों तथा वनों का तीव्र गति से काटा जाना,
5. जनसंख्या में तीव्र दर से अभिवृद्धि होना।

ईंधन के रूप में कोयले से, खनिज तेल से, मिट्टी के तेल से CO_2 गैस निकलती है। बसों, ट्रेनों, स्कूटरों आदि से भी पेट्रोल एवं डीजल द्वारा CO_2 निकलती है। दूषित गैसें तथा अनपेक्षित धुएँ के रूप में धूल के कण एक साथ मिलते रहते हैं। इन सभी से वायु में प्रदूषण होता है। कारखानों, उद्योगों, वाहनों तथा अन्य गैसीय साधनों द्वारा गहरे काले धुएँ में अपशिष्ट गैसों के अलावा कई पदार्थों के सूक्ष्म कण होते हैं। ये कण श्वसन के दौरान शरीर में प्रवेश कर रोग उत्पन्न कर देते हैं। डीज़ल, पेट्रोल तथा कारखानों की गैसों में प्रमुख रूप से कार्बन मोनो ऑक्साइड, कार्बन डाईऑक्साइड, नाइट्रस ऑक्साइड, हाइड्रोक्लोरिक एसिड, विभिन्न हाइड्रो-कार्बन आदि प्रमुख हैं। जनसंख्या-वृद्धि, पेड़ों एवं वनों का अनावश्यक कटाव आदि से भी वायु प्रदूषण बढ़ रहा है।

वायु प्रदूषण के दुष्प्रभाव– वायु प्रदूषण के निम्नलिखित दुष्प्रभाव होते हैं–

1. जिन कारखानों से ये गैसें निकलती हैं– Cl_2 NH_3 SO_2 NO, इनसे आँखों में जलन होती है एवं गले के रोग उत्पन्न हो जाते हैं।
2. कारखानों में रसायनों का उत्पादन किया जाता है, उनसे निकली वाष्प से फेफड़े के अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।
3. वायुमण्डल में धुआँ तथा धूल के कण से जुकाम, खाँसी, दमा एवं टी. बी. आदि रोग हो जाते हैं।
4. एल्यूमिनियम तथा सुपर फास्फेट उत्पन्न करने वाले कारखानों से निकलने वाली गैसों से दाँतों और हड्डियों के रोग हो जाते हैं।
5. पेट्रोल और डीजल के वाहनों द्वारा कार्बन डाई-ऑक्साइड और टेट्रा मेथिल लेड आदि गैसें उत्पन्न होती हैं, जिनको श्वसन में लगातार लेने से कैंसर, क्षय आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।
6. वायु-प्रदूषण से पौधों को भी बहुत हानि होती है। सल्फर डाई-ऑक्साइड तो पौधों को बिल्कुल मृत कर देती हैं।

7. वन अनियंत्रित रूप से कट रहे हैं और इससे पर्याप्त ऑक्सीजन न मिल पाने के कारण मानव स्वास्थ्य गिर रहा है।
8. वायु में रेडियो ऐक्टिव विकिरण भी मिश्रित है, जो कि स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद है।

वायु प्रदूषण नियंत्रण के उपाय— निम्नलिखित साधनों तथा विधियों से प्रदूषण पर नियंत्रण पाया जा सकता है—

1. कारखानों की चिमनियों पर गैस अवशोषण यंत्र को अनिवार्यत: लगाया जाये।
2. कल-कारखानों एवं उद्योग-धन्धों को बस्ती या शहर से दूर लगाया जाये, ताकि इससे निकलने वाली गैसों से बस्ती या शहर के नागरिक प्रभावित न हों।
3. कारखानों में कार्यरत व्यक्तियों का समय-समय पर स्वास्थ्य परीक्षण कराते रहना चाहिए।
4. अपशिष्ट गैसों और धुएँ के वायुमण्डल में पहुँचने के पूर्व ही उनमें इतनी ऑक्सीजन मिला दी जाये कि उनमें उपस्थित पदार्थ का पूरा ऑक्सीकरण हो जाये, ताकि प्रदूषण कम हो जाये।
5. जिस ईंधन का प्रयोग किया जाये वह ऐसा हो कि दहन प्रक्रिया के दौरान उसका ऑक्सीकरण पूर्ण हो जाये, ताकि कम-से-कम धुआँ दूषित गैसें बाहर निकलें।
6. वाहनों के लिए उपयुक्त ईंधन उचित मात्रा में प्रयोग किया जाना चाहिए। समय-समय पर दहन ईंधन का परीक्षण किया जाना चाहिए।
7. अपशिष्ट पदार्थयुक्त बड़े कणों को उपयुक्त छन्ने लगाकर वायुमण्डल में फैलने से रोका जाना चाहिए।
8. वनों को बर्बरतापूर्वक नहीं काटा जाये। प्रत्येक छात्र एवं नागरिक को एक वृक्ष काटने पर दो नये वृक्ष लगाने चाहिए।
9. प्रदूषण को रोकने के लिए नये उपाय खोजने चाहिए।
10. पर्यावरणीय सन्तुलन के लिए सरकारी तथा सामाजिक स्तर पर भी उपाय करने चाहिए।
11. कारखानों में काम करने वाले व्यक्तियों का समय-समय पर स्वास्थ्य परीक्षण कराते रहना चाहिए।

(ब) जल प्रदूषण— जिस प्रकार मानव-जीवन के लिए शुद्ध वायु एक आवश्यक वस्तु है, उसी प्रकार जल भी मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकता है। विकास के इस युग में औद्योगिकीकरण के कारण कल-कारखानों में प्रयुक्त अपशिष्ट पदार्थों के पानी के साथ बहने से वह अशुद्ध हो जाता है। धीरे-धीरे अवांछित पदार्थ बढ़ने लगते हैं। आज भूमिगत जल (कुओं, ट्यूबवेलों, हैण्ड पम्पों आदि से प्राप्त होते हैं), में धीरे-धीरे अवांछित पदार्थों की मात्रा बढ़ने लगी है। इस प्रकार समुद्र के जल में भी इन अपशिष्ट पदार्थों की मात्रा बढ़ी है।

अत: अपशिष्ट पदार्थों के जल में मिश्रित होने से वह प्रदूषित हो जाता है। इससे जीव-जन्तुओं पर कुप्रभाव पड़ता है। इसे ही जल का प्रदूषण कहते हैं।

जल प्रदूषण के कारण— जल प्रदूषण के निम्नलिखित कारण हैं—

1. गाँवों, नगरों और महानगरों में पानी प्रायः एक बड़े नाले के रूप में नदी, तालाब आदि में मिलता रहता है।
2. औद्योगिकीकरण के कारण कल-कारखानों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है और नये-नये कारखानों का निर्माण होता जा रहा है। इन कल-कारखानों से उत्पन्न अपशिष्ट पदार्थ कूड़ा-करकट, रासायनिक अपशिष्ट आदि नदियों में मिलता रहता है, जो कल-कारखाने, नदी, झीलों तथा तालाबों के किनारे होते हैं, वे इस अपशिष्ट पदार्थों को भूमि पर या जल में फेंक देते हैं। इससे वह दूषित हो जाता है।
3. जनसंख्या वृद्धि के कारण मल-मूल को उपयुक्त स्थान पर हटाना सम्भव नहीं होता। अतः बड़ी मात्रा में मल-मूत्र नदियों में बहा दिया जाता है, जिससे जल प्रदूषित हो जाता है।
4. समुद्र के जल में परमाणु विस्फोट से जल प्रदूषित हो जाता है।

जल प्रदूषण का प्रभाव— जल प्रदूषण के प्रभाव निम्नलिखित हैं—

1. कल-कारखानों से निकले अपशिष्ट पदार्थों के जलाशयों और नदियों में मिलने से जल दूषित हो जाता है। दूषित जल से जलीय पादप और जन्तु नष्ट हो जाते हैं।
2. कोटा के ताप बिजलीघर से चम्बल का पानी और दिल्ली में डी. डी. टी. बनाने के कारखानों से यमुना का पानी दूषित हो रहा है।
3. दूषित जल पीने से कई बीमारियाँ हो जाती हैं। गाँवों तथा शहरों का गन्दा जल जलाशयों एवं नदियों में मिलने से हैजा, मोतीझरा, पेचिश, क्षय आदि रोग हो जाते हैं। दूषित जल से ही मानव के शरीर में टेप-वर्म, गोल-कृमि तथा हुक-वर्म आदि प्रवेश कर जाते हैं। इनसे कई रोग उत्पन्न होते हैं।
4. समुद्र में परमाणु विस्फोट से असंख्य समुद्री जीव-जन्तु मर जाते हैं। फलस्वरूप वहाँ का सन्तुलन बिगड़ जाता है।

जल प्रदूषण रोकने के उपाय— जल प्रदूषण को रोकने के निम्नलिखित उपाय हैं—

1. नदियों, कुओं, जलाशयों आदि के जल में गन्दे बर्तन और कपड़े आदि साफ नहीं करने चाहिए।
2. नदियों, कुओं, हैण्ड पम्पों तथा तालाबों आदि के निकट मल-मूत्र नहीं त्यागना चाहिए।
3. कल-कारखानों के अपशिष्ट पदार्थों को नदियों और जलाशयों में नहीं डालना चाहिए। उनका ऑक्सीकरण किया जाना चाहिए। उन्हें पूर्ण दोषरहित बनाकर ही डाला जाना चाहिए।
4. समुद्र में परमाणु परीक्षण (विस्फोट) नहीं किये जाने चाहिए।
5. पानी को छानकर एवं शुद्धीकरण करने के पश्चात् ही प्रयोग में लाना चाहिए।
6. पानी को गर्मकर कुछ रासायनिक पदार्थों की क्रिया द्वारा भी कुछ हानिकारक कीटों को नष्ट किया जा सकता है। पानी में क्लोरीन मिलाने से यह कार्य हो सकता है।
7. शहरों से कूड़ा-करकट आदि को शहर से बाहर फेंका जाना चाहिए। यदि इसका वैज्ञानिक प्रयोग किया जाये तो कृषि के लिए खाद के रूप में 20 लाख टन नाइट्रोजन एवं फॉस्फेट प्राप्त होगा तथा शुद्ध जल भी प्राप्त होगा।

(स) ध्वनि या शोर प्रदूषण— दैनिक जीवन में व्यवहार्य आवाज से अधिक ऊँची आवाजें 'शोर' कहलाती हैं। आधुनिक यांत्रिक युग में निरन्तर बढ़ते कल-कारखानों, उद्योग-धन्धों, मोटरगाड़ियों, जेट एवं अन्य हवाईजहाज शोर की मात्रा को पर्यावरण में सतत बढ़ा रहे हैं। इनके अतिरिक्त घरेलू एवं सामाजिक शोर जिनमें ऊँचे वॉल्यूम से बजते रेडियो, ट्रांजिस्टर, टेलीविजन एवं लाउडस्पीकर (ध्वनि प्रसारक यंत्र) जो कि अनेकानेक समारोहों, शादी-विवाह, धार्मिक कीर्तन-जागरण, जनसभा, जुलूस इत्यादि में बजते हैं, वे भी ध्वनि (शोर) करते हैं, शोर की इस मात्रा से पर्यावरण की शान्ति भंग हो रही है और मानव स्वास्थ्य पर घातक प्रभाव पड़ रहा है।

इस प्रकार शोरगुल की अधिकता से उत्पन्न इसी अदृश्य प्रदूषण का नाम ध्वनि (शोर) प्रदूषण है।

ध्वनि (शोर) प्रदूषण के प्रभाव— ध्वनि (शोर) प्रदूषण के प्रभाव निम्नलिखित होते हैं—

1. शोर (ध्वनि) से हमारे कान प्रभावित होते हैं। कानों को यह अप्रिय लगती है।
2. कार्यक्षमता में कमी आ जाती है तथा मानसिक तनाव बढ़ता है। परीक्षणों से पता चलता है कि कर्कश ध्वनि मनुष्य को रोगी और बहरा बना देती है।
3. इसमें कानों के अतिरिक्त मस्तिष्क, केन्द्रीय तांत्रिका तंत्र (संस्थान) तथा आमाशय पर भी प्रभाव पड़ता है।
4. इससे सिरदर्द, उच्च रक्तचाप, रक्त दाब, कम स्मरण शक्ति, मिचली, उल्टी, कान में दर्द, चमड़ी की जलन, रक्त प्रवाह की समस्याएँ, मानसिक दबाव, चिडचिड़ापन आदि बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं।
5. ध्वनि की तीव्रता मापने का मात्रक 'डेसीबल' है। यह पैमाने पर शून्य ध्वनि की तीव्रता का स्तर है, जहाँ से ध्वनि सुनाई देना आरम्भ होती है। 110 पर व्यग्रता, 130 संवेदना आरम्भ, 140 पर पीड़ा आरम्भ तथा 150 डेसीबल पर असह्य पीड़ा अनुभव होती है।
6. वैज्ञानिक शोधों से स्पष्ट है कि 90 डेसीबल से ऊपर की ध्वनि के प्रभाव के लम्बे समय तक रहने पर व्यक्ति बहरा हो जाता है और 130-140 डेसीबल का शोर शारीरिक दर्द उत्पन्न करता है। प्रयोग द्वारा मुम्बई का शोर-स्तर 75-80 डेसीबल तथा दिल्ली का लगभग 90-95 डेसीबल ज्ञात किया गया है। इस प्रकार अधिक शोर की मात्रा स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद है। इससे बचाव किया जाना चाहिए।

ध्वनि प्रदूषण से बचाव— ध्वनि प्रदूषण से बचाव के लिए निम्नलिखित उपाय किये जाने चाहिए—

1. शोर से बचने के लिए कल-कारखानों को सामान्य नगर तथा कस्बों से दूर किया जाना चाहिए।
2. ज़िन कमरों में अधिक ध्वनि (शोर) उत्पन्न होता हो उनकी अन्दर की दीवारों पर ध्वनि अवशोषक पदार्थों का स्तर लगाना चाहिए, जिससे शोर निम्नतम बाहर जाये।

3. पौधों में ध्वनि प्रदूषण को कम करने की अत्यधिक क्षमता होती है. अत: जिन संस्थानों में शोर अधिक होता है, उनकी परिधि में वृक्ष लगाये जाने चाहिए।
4. कल-कारखानों में काम करने वाले व्यक्तियों को समय-समय पर श्रवण-शक्ति की जाँच करानी चाहिए।
5. शोर को सीमित रखने का प्रयास किया जाना चाहिए।
6. जन-सामान्य को इस बारे में शिक्षित करना चाहिए कि शोर हमारे स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद है।
7. वाहनों के हार्न का कम-से-कम प्रयोग करना चाहिए। उनको यातायात के नियमों के अनुसार बिना किसी अवरोध के स्वदिशा संकेतक के आधार पर सड़क को पार करने की छूट होनी चाहिए।
8. सड़क पर चलने वाले यात्रियों को चौराहों पर लगे संकेतकों को देखकर सड़क पार करना चाहिए।
9. कल-कारखानों में कम ध्वनि का सायरन बजना चाहिए।
10. लाउडस्पीकर एवं बैण्डबाजों पर प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए कि वे व्यर्थ न बजायें। दुकान वाले प्रदर्शन हेतु परीक्षण करते हैं, कम करें।

(द) तापीय प्रदूषण— जब कल-कारखानों और औद्योगिक संस्थाओं में पानी को शीतल या स्नेहक या ऊर्जा उत्पादक के लिए प्रयुक्त करते हैं, तब उसका ताप बढ़ जाता है। जब यह उच्च ताप का पानी नदियों का समुद्र में बहा दिया जाता है, तो उस स्थान पर पानी का ताप बढ़ जाता है, तब इसको तापीय प्रदूषण कहते हैं।

तापीय प्रदूषण के प्रभाव— इस प्रदूषण से निम्नलिखित प्रभाव हैं—
1. इस प्रकार का ताप प्रदूषण जैविक एवं रासायनिक प्रक्रियाओं को तीव्र करता है और पानी में मिली ऑक्सीजन को कम करता है।
2. ऑक्सीजन कम होने से पानी का तापक्रम बढ़ता है, जो मछलियों आदि जल-जीवों के लिए घातक होता है एवं जहरीली वनस्पति को उत्पन्न करता है।
3. नाभिकीय ऊर्जा संयंत्र इस प्रकार के प्रदूषण के स्रोत हैं।
4. नदियों एवं समुद्र के पानी का ताप बढ़ता है।

तापीय प्रदूषण से बचाव के उपाय— इस प्रदूषण से बचने के लिए निम्नलिखित उपाय बरतने चाहिए—
1. तापीय प्रदूषण को नियंत्रित करने के लिए पानी को निर्मल कर चक्रीय रूप में प्रयुक्त करना चाहिए।
2. गरम पानी को नदियों, तालाबों अथवा समुद्र में छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। पानी को चक्रीय रूप में प्रयोग किया जाये।

प्रश्न 18. पाठ्यगत (पाठ्यक्रम) एवं पाठ्य सहगामी क्रियाओं से आप क्या समझते हैं? पाठ्य सहगामी क्रियाओं के महत्त्व को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर— शिक्षा सर्वांगीण विकास की एक प्रक्रिया है, जिसका लक्ष्य वर्तमान समय में अत्यन्त व्यापक हो गया है। शिक्षा के लक्ष्य की व्यापकता ने पाठ्यक्रम को अति व्यापक बना

दिया है। आज पाठ्यक्रम में शिक्षकों एवं छात्रों के बीच की समस्त अन्तर्क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है, जो विद्यालय के अन्दर या बाहर घटित होती है। इस अर्थ में पाठ्यक्रम की सहगामी क्रियाएँ पाठ्यक्रम की अभिन्न अंग है।

पाठ्यक्रम की सहगामी क्रियाएँ

पाठ्यक्रम की सहगामी क्रियाओं के अन्तर्गत निम्न को सम्मिलित किया जाता है—

(क) स्वास्थ्य एवं मनोरंजन से सम्बन्धित क्रियाएँ— इसके अन्तर्गत खेलकूद, व्यायाम, विद्यालय के उत्सव, विद्यालय का वार्षिकोत्सव, अभिभावक दिवस, राष्ट्रीय पर्व आदि को सम्मिलित किया जाता है।

(ख) सांस्कृतिक क्रियाएँ— सांस्कृतिक क्रियाएँ बालकों के चारित्रिक, संवेगात्मक एवं सामाजिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इसके अन्तर्गत नाटक, लोकगीत, संगीत, प्रहसन और कैम्पफायर आदि को सम्मिलित किया जाता है।

(ग) साहित्यिक क्रियाएँ— साहित्यिक क्रियाओं से छात्रों में साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न होती है और अध्ययन के लिए प्रेरणा मिलती है। साहित्यिक क्रियाओं में साहित्यिक प्रतियोगिताएँ, विद्यालय पत्रिका, भाषणमाला का आयोजन, कवि सम्मेलन एवं कवि दरबार आदि को सम्मिलित किया जाता है।

(घ) सामाजिक क्रियाएँ— बालकों में सामाजिक विकास की प्रवृत्ति का विकास आज शिक्षा का महत्त्वपूर्ण लक्ष्य है। इसके अन्तर्गत श्रमदान, युवक मंगलदल, छात्र समितियों आदि को सम्मिलित किया जाता है।

उपर्युक्त क्रियाओं के अतिरिक्त पाठ्य सहगामी क्रियाओं में स्काउटिंग, गाइडिंग, सैनिक शिक्षा एवं पिकनिक (टूर) आदि को भी सम्मिलित किया जाता है।

पाठ्य सहगामी क्रियाओं का महत्त्व

बालकों के व्यक्तित्व के विकास में पाठ्यक्रम के शिक्षक-विषयों का जितना योग है उससे कम सहगामी क्रियाओं का नहीं है। इन सहगामी क्रियाओं का बालक के हर एक प्रकार के विकास में योग होता है। सामाजिक गुणों का विकास तो बहुत कुछ सहगामी क्रियाओं पर ही निर्भर करता है। सहगामी क्रियाओं के महत्त्व इस प्रकार हैं—

1. पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाएँ पाठ्यक्रम को रोचक बनाती हैं— निरन्तर पढ़ते-लिखते रहने से छात्रों का जी ऊब जाता है। इसलिए बीच-बीच में उनका खेलते-कूदते रहना या अन्य कोई काम करते रहना जरूरी है। सहगामी क्रियाओं के अभाव में पाठ्यक्रम की दशा उस मार्ग की-सी हो जाती है जिस पर मुसाफिरों के आराम, मनोरंजन और खाने-पीने की व्यवस्था नहीं रहती, जिस पर जाना लोग कतई पसन्द नहीं करते।

सहगामी क्रियाओं से निरन्तर पढ़ते-लिखते रहने से बालकों में अपनी थकान दूर हो जाती है और उसके अन्दर पढ़ने-लिखने की पुन: क्षमता आ जाती है। इसलिए बीच-बीच में बालकों को खेलने-कूदने का अवसर अवश्य देना चाहिए।

2. अवकाश के समयों का सदुपयोग— बालक निरन्तर पढ़ते-लिखते रहने से ऊब जाते हैं अत: उनको बीच-बीच में अवकाश देना चाहिए। इस अवकाश को वे बेकार की बातों

एवं शरारतों में खर्च कर सकते हैं। इसलिए अध्यापकों का यह परम कर्त्तव्य होता है कि वे इन खाली समयों का भी अधिक से अधिक सदुपयोग करें।

3. स्वानुशासन— बच्चों को स्वानुशासित रहने का जितना अवसर सहगामी क्रियाओं में मिलता है उतना कक्षा के कार्यों में नहीं। कक्षाओं में तो बच्चे अध्यापकों के नियन्त्रण में रहते हैं, पर खेल-कूद आदि सभी प्रकार की सहगामी क्रियाओं में वे बिल्कुल स्वतन्त्र रहते हैं। सच्चा अनुशासन वहीं देखने में आता है जहाँ स्वतन्त्रता होती है।

4. सामाजिक विकास— स्वतन्त्र वातावरण में परस्पर एक-दूसरे के साथ हिल-मिलकर काम करने से सामाजिक गुणों का विकास होता है। सामाजिक गुणों के विकास का अवसर जितना स्वतन्त्र वातावरण में मिलता है उतना कक्षा में नहीं। बालक एक-दूसरे के सम्पर्क में तभी आते हैं जब उनको साथ-साथ मिलकर काम करने का अवसर मिलता है।

5. शारीरिक विकास— कहावत है "स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क रहता है।" स्वास्थ्य ही सफलता की कुञ्जी होती है। बालकों का शारीरिक विकास उनका सबसे प्रमुख विकास है। जिस राज्य में स्वस्थ नागरिक रहते हैं उस राज्य में किसी प्रकार की कमी नहीं हो सकती। इसलिए प्रत्येक विद्यालय का काम स्वस्थ नागरिकों का निर्माण करना है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि बालकों के शारीरिक विकास का अवसर केवल सहगामी क्रियाओं में ही मिलता है अन्यत्र नहीं।

6. मानसिक विकास— सहगामी क्रियाओं से बालकों के मानसिक विकास का भी पर्याप्त अवसर मिलता है। सहगामी क्रियाओं में बालक अपनी रुचि के अनुसार काम करने के लिए स्वतन्त्र रहते हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इनसे बालकों का मानसिक विकास नहीं हो सकता। सहगामी क्रियाओं में ही बालकों को स्वतन्त्र दृष्टि से सोचने-विचारने का अवसर मिलता है। बालकों के सामने बहुत-सी ऐसी समस्याएँ आती हैं, जिनका समाधान वे अपने आप ढूँढ़ते हैं। इसमें उसको सोचने-विचारने और तर्क करने का पर्याप्त अवसर मिलता है। सहगामी क्रियाओं में बालक एक दूसरे के प्रति स्पर्द्धा का भाव रखते हैं इसलिए मानसिक प्रयास करने के लिए उन्हें पर्याप्त प्रेरणा मिलती है।

7. संवेगात्मक विकास— बालकों को अपनी मूल प्रवृत्तियों एवं संवेगों के परिष्कार एवं शोधन के लिए जितना अवसर सहगामी क्रियाओं से मिलता है उतना अन्यत्र नहीं। सहगामी क्रियाओं में बालकों को आत्माभिव्यक्ति का पर्याप्त अवसर मिलता है। इस आत्माभिव्यक्ति से बालकों के संवेगों का शोधन होता है। सहगामी क्रियाओं में बालक एक साथ मिलकर काम करते हैं इसलिए अपने संवेगों पर अपने आप नियन्त्रण करने की क्षमता बालकों में आती है। उनके व्यवहारों में परिवर्तन आता है। यहाँ बालकों को अनेक ऐसे भावों को अभिव्यक्त करने का अवसर मिलता है, जिनको कि वे अन्यत्र अभिव्यक्त नहीं कर सकते।

8. चारित्रिक विकास— बालकों के चरित्र-निर्माण की समस्या वर्तमान शिक्षा की अनेकानेक समस्याओं में से एक है। प्रश्न उठता है कि बालकों का चारित्रिक विकास कैसे किया जाये? बालकों के चरित्र निर्माण के साधनों में सबसे प्रमुख सहगामी क्रियाएँ ही हैं।

9. मनोरंजन— मानव की अनेकानेक आवश्यकताओं में से मनोरंजन की भी आवश्यकता है। विद्यार्थियों को भी मनोरंजन की आवश्यकताओं में से मनोरंजन की भी आवश्यकता है। विद्यार्थियों को भी मनोरंजन की आवश्यकता पड़ती है, पाठ्यक्रम की सहगामी क्रियाएं बालकों के मनोरंजन का सबसे उत्तम साधन है। इसमें बालक अपनी मनोरंजन अपने आप कर लेते हैं।

10. विद्यालय का आर्थिक लाभ— सहगामी क्रियाओं में छात्र समिति और श्रमदान भी आते हैं। छात्र समितियाँ विद्यालय का अधिकांश कार्यभार अपने हाथ में ले लेती हैं। इसमें विद्यालय की थोड़ी बहुत आर्थिक बचत भी हो जाती है। श्रमदान में छात्र कभी-कभी ऐसा काम कर देते हैं, जिससे विद्यालय की पर्याप्त आर्थिक बचत हो जाया करती है। विद्यालय की मरम्मत, विद्यालय की सफाई, विद्यालय का मैदान, विद्यालय की सड़क, विद्यालय की बागवानी आदि छात्र अपने सहयोग से तैयार कर सकते हैं।

11. विद्यालय और समाज के बीच सम्बन्ध— विद्यालय एक सामाजिक संस्था है। इसका निर्माण विद्यालय अपने हित के लिए करता है इसलिए इन दोनों में परस्पर सम्बन्ध रहना जरूरी है। दोनों एक-दूसरे से जितना सन्निकट रहेंगे उतना ही एक-दूसरे की समस्याओं को जान सकेंगे। एक-दूसरे की समस्याओं को जानने के बाद ही वे एक-दूसरे के हित के उपाय कर सकते हैं। इसके लिए विद्यालय और समाज को एक-दूसरे के सन्निकट लाना बहुत जरूरी है। विद्यालय और समाज को एक-दूसरे के सन्निकट लाने वाले साधनों में सहगामी क्रियाएँ प्रमुख हैं।

12. छात्रों और अध्यापकों के बीच सम्बन्ध— छात्रों और अध्यापकों के बीच सम्बन्ध होना नितान्त जरूरी है। यह सम्बन्ध कक्षा के अन्दर उतना नहीं हो सकता है, जितना कक्षा के बाहर की क्रियाओं में। सहगामी क्रियाओं में अध्यापकों को छात्रों को निकट से पहचानने का अवसर मिलता है।

13. छात्रों की व्यक्तिगत समस्याओं का पता लगाना— सहगामी क्रियाओं में छात्रों को आत्माभिव्यक्ति का पूरा अवसर मिलता है। बालक जब स्वतन्त्र वातावरण में निस्संकोच होकर कार्य करते हैं तभी उनको पहचाना जा सकता है। अध्यापक किसी बालक की व्यक्तिगत समस्याओं को ऐसे समय जान सकता है।

14. छात्रों में त्याग और सहानुभूति की भावना— मानव को योग्य नागरिक बनने के लिए उसमें त्याग और सहानुभूति का होना बहुत जरूरी है। यह त्याग और सहानुभूति की भावना सहगामी क्रियाओं के द्वारा जितनी आती है उतनी अन्यत्र नहीं।

15. सहयोग का भाव— बालकों को योग्य नागरिक बनाने के लिए उन्हें जनतन्त्र की शिक्षा नितान्त जरूरी है। इसके लिए बालकों में स्वावलम्बन और सहयोग का भाव विकसित करना बहुत जरूरी है।

16. बालकों में समस्याओं से लड़ने की क्षमता आती है— सहगामी क्रियाओं में भाग लेने वाले छात्रों में समस्याओं से लड़ने की क्षमता पैदा होती है।

17. सहगामी क्रियाओं से विद्यालय का स्तर ऊपर उठता है— उन विद्यालयों की गणना अच्छे विद्यालय में होती है जहाँ सहगामी क्रियाओं पर पर्याप्त पैसा खर्च होता है।

18. छात्रों में नेतृत्व ग्रहण करने की क्षमता आती है– सहगामी क्रियाओं से बालकों में स्फूर्ति और कार्य-कुशलता आती है। इससे उसमें नेतृत्व ग्रहण करने की क्षमता आती है।

प्रश्न 19. विद्यालय भवन के स्थान के चयन में किन-किन बातों को ध्यान में रखना चाहिए? विद्यालय भवन का महत्त्व भी बताइए।

उत्तर– विद्यालय-भवन के लिए स्थान का चयन करते समय निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए–

1. विद्यालय की इमारत प्रायः शहर एवं आबादी से दूर एकान्त स्थान में होनी चाहिए। शहर एवं आबादी के कोलाहल तथा आकर्षण के अन्य केन्द्रों पर विद्यालय भवन नहीं बनवाना चाहिए। डब्ल्यू० एम० रायबर्न ने लिखा है– "यदि किसी प्रकार सम्भव हो तो पाठशाला के लिए नगर से बाहर स्थान प्राप्त कर लेना ज्यादा अच्छा होता है। निश्चय ही यह चीज बड़े कमरों के लिए सम्भव नहीं है, पर भारत के बहुसंख्यक नगरों तथा गाँवों में यह सम्भव है कि पाठशाला यदि नगर से कुछ दूरी पर न हो तो कम से कम नगर के क्षेत्रफल से बाहर हो।" वहाँ छात्रों को शुद्ध और ताजी हवा मिल सकेगी।

2. पाठशाला भवन ऐसे स्थान पर होना चाहिए जहाँ पहुँचने के लिए सामान्य सुविधाएँ हों। मार्ग अधिक खर्चीला एवं श्रमसाध्य न हो।

3. पाठशाला नगर या आबादी से इतनी दूर नहीं होनी चाहिए कि जहाँ समय से पहुँचने में कठिनाई हो। आबादी में बहुत दूर होने पर छात्रों एवं अध्यापकों के रहने के लिए अपनी निजी व्यवस्था करती पड़ती है।

4. भवन दूषित स्थान पर नहीं होना चाहिए, विशेषकर वहाँ फैक्टरियाँ हों।

5. विद्यालय भवन सार्वजनिक स्थानों से दूर होना चाहिए, वहाँ हर समय अशान्ति बनी रहती है तथा अध्ययन के वातावरण का अभाव होता है।

6. स्कूल ऐसे स्थान पर होना चाहिए जहाँ उसके विस्तार के लिए पर्याप्त जगह हो और छात्रों के खेलने-कूदने के लिए मैदान हो।

7. इमारत ऐसे स्थान पर होनी चाहिए जो सामान्य धरातल से ऊपर हो। जहाँ बरसात में पानी लगने की सम्भावना न हो। पानी एवं दलदल से युक्त जमीन पर विद्यालय भवन का निर्माण नहीं करना चाहिए। विद्यालय भवन के आस-पास गन्दे पानियों से भरी बावलियाँ एवं गड्ढे नहीं होना चाहिए, क्योंकि इनसे वातावरण दूषित होता है और बीमारियों के फैलने की सम्भावना होती है।

8. विद्यालय भवन के चारों ओर साफ-सुथरा एवं खुला मैदान होना चाहिए जहाँ हवा और रोशनी अपने आप पहुँच सके।

9. विद्यालय भवन ऐसे मैदान में होना चाहिए जिसकी मिट्टी उपजाऊ हो ताकि बागवानी के लिए वह स्थान उपयुक्त प्रमाणित हो सके।

10. औसतन प्रारम्भिक शिक्षालयों के लिए प्रत्येक 100 विद्यार्थियों के लिए कम-से-कम एक एकड़ और माध्यमिक विद्यालयों में प्रत्येक 100 विद्यार्थियों के लिए कम से कम 10 एकड़ भूमि उपलब्ध होनी चाहिए।

तात्पर्य यह है कि विद्यालय भवन ऐसे स्थान पर होना चाहिए जहाँ अध्ययन-अध्यापन के लिए उपयुक्त वातावरण हो, जहाँ छात्रों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके और जो बालकों के स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अच्छा हो। शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक दृष्टि से वह स्थान अच्छा हो।

विद्यालय भवन की रचना इस दृष्टि से होनी चाहिए कि प्रत्येक कक्ष एक-दूसरे से जुड़े होने पर भी सर्वथा अलग हों एवं सभी कक्ष में हवा, रोशनी पहुँच सके। विद्यालय की इमारत के विषय में एक स्पष्ट योजना होनी चाहिए। उसका नमूना किसी इंजीनियर द्वारा बनवाना चाहिए। कक्षालयों में आकार, दरवाजे एवं संख्या सब आवश्यकतानुसार निश्चित होने चाहिए।

कक्षालयों के अलावा शिक्षकों के लिए कमरे, पुस्तकालय, प्रयोगशालाओं, विषयकक्ष, कार्यालय, हाल, वाचनालय और शौचालय आदि की भी व्यवस्था होनी चाहिए।

विद्यालय भवन अंग्रेजी के E अक्षर के आकार का हो तो अच्छा होगा। कमरों के सामने बरामदे में दरवाजे और पीछे खिड़कियाँ तथा उनके ऊपर रोशनदान चाहिए। इमारत एक मंजिल की हो तो अच्छा है।

हमें विद्यालय भवन के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए–

1. विद्यालय की इमारत का वर्ष में एक बार दीवाली के लगभग पूरी सफाई एवं सफेदी होनी चाहिए।
2. टूटे-फूटे स्थानों एवं दरवाजों की खिड़कियों की मरम्मत एवं सफाई-रंगाई होनी चाहिए।
3. भवन के आस-पास के स्थान साफ होने चाहिए तथा फूल-पत्तियों के द्वारा सजे होने चाहिए।
4. मैदान एवं कक्षों की प्रतिदिन सफाई होनी चाहिए।
5. समय-समय पर कमरों में कीटाणुनाशक द्रव्यों को छिड़कना चाहिए।
6. स्कूल-भवन की सफाई एवं मरम्मत के लिए छात्रों की एक समिति बना देना चाहिए।

कक्षालय, हाल एवं विषयों के कमरे

कक्षालय– कक्षालयों के आकार विद्यार्थियों की संख्या के अनुसार होने चाहिए। कक्षालय में छात्रों के बाद इतनी जगह शेष होनी चाहिए कि शिक्षक आसानी से अध्यापन कार्य कर सकें और जरूरत पड़ने पर विद्यालय के पास पहुँच सकें। रायबर्न ने लिखा है– "कमरे इतने बड़े होने चाहिए कि उसमें विभागों द्वारा निर्धारित किये गये नियमों के अनुसार 40-45 विद्यार्थी अध्ययन कर सकें। वे लगभग 22 × 23 फीट होने चाहिए। डेस्कों के बीच आने-जाने के लिए रास्ते होने चाहिए।"

शिक्षकों के बैठने के लिए एक काफी बड़ा कमरा होना चाहिए जो छात्रों की अभ्यास-पुस्तिकाओं को जाँचने के लिए सुविधाजनक सामग्रियों एवं साधनों से युक्त हो कक्षा के बीच में एक लम्बी मेज के चारों ओर शिक्षकों के बैठने के लिए कुर्सियाँ हों, तथ चारों दीवारों से लगी हुई हर शिक्षक के लिए अलग-अलग मेज और कुर्सियाँ तथा उनसे लग हुई छोटी आलमारियाँ होनी चाहिए।

हॉल— प्रत्येक शिक्षालय में एक बड़ा हॉल होना चाहिए। यह पूरे विद्यालय के छात्रों की संख्या के अनुसार होना चाहिए। इसमें छात्रों एवं अध्यापकों की प्रतिदिन की सामूहिक सभा एवं अन्य समारोहों की व्यवस्था के लिए स्थान होना चाहिए। हॉल सुसज्जित होना चाहिए।

प्रत्येक विद्यालय में एक पुस्तकालय एवं उससे लगा वाचनालय होना चाहिए। वाचनालय इतना लम्बा होना चाहिए कि छात्र उसमें आसानी से बैठकर पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ सकें, पुस्तकालय में पुस्तकों को आलमारियों के अतिरिक्त पुस्तकालयाध्यक्ष के बैठने के लिए स्थान तथा पुस्तकें देने के लिए काउण्टर हों।

विषय-कक्ष— शिक्षालय में हर विषय के लिए अलग-अलग कक्ष होना चाहिए जो फर्नीचर तथा विषय से सम्बन्धित सामग्रियों एवं उपकरणों से सुसज्जित हो।

विद्यालय भवन एवं साधन के विषय में माध्यमिक शिक्षा आयोग के सुझाव

1. ग्रामीण क्षेत्रों में पर्याप्त जनसंख्या वाले उन केन्द्रीय स्थानों में विद्यालयों की स्थापना हो जो चारों ओर के गाँवों की आवश्यकता की पूर्ति करें।
2. नगरों में शिक्षालय की स्थापना कोलाहलपूर्ण वातावरण से दूर होनी चाहिए एवं छात्रों के लिए आवश्यक परिवहन की व्यवस्था की जाय।
3. नगरों में प्राप्त खुले स्थानों को स्कूलों के समूहों द्वारा खेल के मैदानों के रूप में प्रयोग में लाये जायँ और उनका संरक्षण किया जाय। खुले स्थानों का संरक्षण केन्द्रीय सरकार, प्रदेश सरकार द्वारा हो। व्यापारिक प्रयत्नों एवं गृह-समितियों के अतिक्रमणों को रोकना चाहिए।
4. विद्यालयों के नक्शे बनाते समय यह ध्यान अवश्य रखा जाय कि प्रत्येक छात्र को कम से कम 10 वर्ग फीट स्थान अवश्य मिले।

विद्यालय भवन का महत्त्व

जीवन की हर क्रिया पर उस वातावरण का प्रभाव पड़ता है जिसमें वह क्रिया सम्पन्न की जाती है। मजदूरों की कार्यक्षमता पर कार्यशाला की बनावट का प्रभाव पड़ता है। परिवार के स्वास्थ्य पर मकान की बनावट और उसके वातावरण का पूरी शिक्षा पर प्रभाव पड़ता है।

विद्यालय भवन के महत्त्व के सम्बन्ध में निम्न बातें महत्त्वपूर्ण हैं—

1. चूँकि क्रिया और वातावरण का अटूट सम्बन्ध होता है इसलिये शिक्षण क्रिया को उत्प्रेरित करने एवं साधन-सम्पन्न एवं उपयुक्त वातावरण में सम्पन्न कराने के लिए एक साधन-सम्पन्न विद्यालय भवन होना आवश्यक है।

2. कार्यकुशलता की वृद्धि भी एक अच्छे विद्यालय भवन के ऊपर निर्भर करती है। ऐसा विद्यालय जहाँ न तो पर्याप्त कमरे हैं और न ही उन कमरों का आकार छात्रों की संख्या के अनुसार है और जहाँ एक ही कमरे में कई कक्षाएँ एवं कई विषयों की शिक्षा दी जाती है, जहाँ कमरों की फर्श एवं छत कच्ची है, कमरा साफ-सुथरा नहीं है, उसमें रोशनी एवं हवा की उचित व्यवस्था नहीं है— शिक्षण कार्य कुशलतापूर्वक सम्पन्न नहीं कराया जा सकता। ऐसे विद्यालय भवन मौसम के अनुसार भी उपयुक्त नहीं होते। बरसात और ग्रीष्म ऋतु में ऐसे विद्यालय भवनों में शायद ही कभी विधिवत् कक्षाएँ चल पाती हैं।

उसमें वायु की कमी के कारण न तो अध्यापक-शिक्षण कार्य कर पाते हैं और न छात्र ही उसमें रुचि ले पाते हैं।

3. साधन-सम्पन्न विद्यालय भवनों में हर विषय के अलग-अलग कमरे होते हैं, जिनकी साज-सज्जा विषय-शिक्षण की सफलता के लिए आवश्यक होती है। इतिहास, भूगोल, विज्ञान, कृषि, शिल्पकला, कला एवं अन्य ऐसे ही विषयों के लिए अलग-अलग कमरों की आवश्यकता होती है। यहाँ चूँकि हर वस्तु एवं साधन कक्षा में उपयुक्त स्थान पर रखे रहते हैं इसलिए हर समय बिना किसी कठिनाई के प्रयोग किया जा सकता है।

4. विद्यालय में अनुशासन कायम रखने में विद्यालय भवन कई रूपों में सहायक होता है–

(i) शिक्षणोपयोगी वातावरण तैयार करके।

(ii) विभिन्न साधनों द्वारा छात्रों को कार्यरत बनाकर।

(iii) उपयुक्त विधियों द्वारा शिक्षण कार्य को रोचक बनाने में सहायता पहुँचाकर।

(iv) उचित वाचनालय की व्यवस्था करके।

(v) विस्तृत एवं उपयोगी पाठ्यक्रम की व्यवस्था में सहायता देकर। प्राय: साधनहीन विद्यालयों में छात्रों को विषयों के चयन की स्वतन्त्रता नहीं रहती, क्योंकि कमरों का अभाव रहता है। कुछ विषयों की शिक्षा इसलिए नहीं दी जाती कि विद्यालय में कमरों का अभाव होता है।

5. साधन-सम्पन्न विद्यालयों में विद्यालय की व्यवस्था एवं प्रशासन की भी सुविधा होती है। अनेक ऐसी समस्याओं का जो साधनहीनता के कारण उत्पन्न होती है, प्रधानाचार्य को सामना नहीं करना पड़ता और न ही उसके लिए समय बरबाद करना पड़ता है।

प्रश्न 20. विद्यालय में स्वास्थ्य शिक्षा कार्यक्रम की एक रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर– अंग्रेजी शब्द 'हाईजीन' यूनानी शब्द 'हाइजिया' से निकला है। यूनानी स्वास्थ्य की देवी को 'हाईजिया' के नाम से पुकारते थे। वे इस देवी को स्वास्थ्य का रक्षक मानते थे। इस प्रकार 'हाईजीन' शब्द का अर्थ–'स्वास्थ्य रक्षा' से सम्बन्ध रखता है, परन्तु आधुनिक काल में इस शब्द का अर्थ व्यापक रूप से लिया जाता है। अर्थ की व्यापकता के अनुसार 'हाईजीन' के अन्तर्गत स्वास्थ्य-रक्षा तथा शारीरिक विकास से सम्बन्धित अनेक बातें आती हैं। इसके अन्तर्गत व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य से सम्बन्धित समस्याओं का भी अध्ययन किया जाता है। सार्वजनिक स्वास्थ्य जनता के स्वास्थ्य से सम्बन्धित है। स्वास्थ्य-शिक्षा के अन्तर्गत इस प्रकार के स्वास्थ्य की समस्याओं का भी समाधान किया जाता है। यह विज्ञान केवल शारीरिक रोगों के नियन्त्रण एवं उनके उपचार से ही सम्बन्धित नहीं है, वरन् इसके अन्तर्गत मानसिक रोगों का भी अध्ययन किया जाता है और उनके उपचार के लिए उपयोगी सुझाव प्रस्तुत किये जाते हैं। शिक्षालय में स्वास्थ्य शिक्षा का मुख्य कार्य यह है कि इसके ज्ञान के द्वारा छात्रों के शारीरिक एवं मानसिक विकास मार्ग में आने वाली असुविधाओं को दूर करना तथा उनके विकास को उचित रूप से गतिशील रखना, जिससे वे अपने व्यक्तित्व क सर्वांगीण विकास कर सकें।

विद्यालयों में स्वास्थ्य शिक्षा का कार्यक्रम

विद्यालयों में छात्रों के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए निम्नलिखित कार्यक्रम बनाये जाने चाहिए–

(क) विद्यालय संयन्त्र– इसके अन्दर दो बातें आती हैं–

(i) स्थिति– स्वास्थ्य शिक्षा के कार्यक्रम को हमें पहले स्वास्थ्य रक्षा के कार्यक्रम से प्रारम्भ करना चाहिए। इसके लिए सर्वप्रथम उस स्थान को जहाँ विद्यालय स्थित है, साफ-सुथरा एवं स्वास्थ्यप्रद बनाने का प्रयास करना चाहिए। विद्यालय-भवन को ऊँचे स्थान पर जहाँ बरसात में पानी न लगे बनवाना चाहिए। भवन सार्वजनिक एवं मनोरंजन तथा यातायात से उत्पन्न शोरगुल से दूर होना चाहिए।

(ii) विद्यालय भवन का निर्माण समझ-बूझकर करवाना चाहिए। स्वास्थ्य के लिए अनुकूल खिड़कियाँ एवं दरवाजे होने चाहिए। भवन का फर्नीचर साफ-सुथरा एवं छात्रों के अनुसार (आकार में) हो। कमरों में रोशनी, हवा आदि की व्यवस्था होनी चाहिए।

(ख) परीक्षण– छात्रों के स्वास्थ्य परीक्षण सम्बन्धी कार्यक्रम–

1. स्कूल में प्रवेश लेते समय सभी छात्रों के स्वास्थ्य की पूरी परीक्षा किसी योग्य चिकित्सक द्वारा कराने के लिए कार्यक्रम होना चाहिए जिसमें विशेषकर उनके–
   (i) शारीरिक परीक्षण, (ii) दन्त परीक्षण,
   (iii) कान परीक्षण, (iv) नेत्र परीक्षण,
   (v) मनोवैज्ञानिक परीक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए।
2. छात्रों के गले और फेफड़े का भी परीक्षण होना चाहिए।
3. परीक्षण की रिपोर्ट छात्रों के अभिभावकों के पास भेज देनी चाहिए।
4. गंभीर केस होने पर उनके अभिभावकों को बुलाकर उचित निर्देश और परामर्श देना चाहिए।
5. प्रत्येक विद्यालय में एक छोटा-सा औषधालय होना चाहिए जिसमें कुछ आवश्यक दवाइयाँ, प्राथमिक चिकित्सा के उपकरण एवं साधन हों।

(ग) संक्रामक रोग का नियन्त्रण

(i) नियमित कार्रवाई– ऐसे छात्रों का परीक्षण करने के बाद उनकी चिकित्सा के लिए उपयुक्त व्यवस्था होनी चाहिए।

(ii) महामारी के समय कार्रवाई– इस कार्यक्रम के अन्दर संक्रमित छात्रों को अन्य छात्रों से दूर रखना चाहिए तथा दूसरे छात्रों को उनके सम्पर्क में आने से रोकना चाहिए। छात्रों को रोग से बचने के लिए टीका लगाने की व्यवस्था करना चाहिए। कृमि नाशक द्रव्यों का छिड़काव करना चाहिए।

रोगोपचार तथा दोष सुधार

(i) विशिष्ट कक्षाएँ– अपंग, हकलाने वाले, कमजोर दृष्टि वाले बालकों के लिए तथा पिछड़े बालकों के लिए अलग से कक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए।

(ii) उपचारात्मक– 1. छात्रों को बैठने के लिए कुर्सियों की ऐसी व्यवस्था होनी ... के बैठने का ढंग न बिगड़े 2. छात्रों के लिए संतुलित आहार और पोषण की

व्यवस्था करनी चाहिए या उनके अभिभावकों को इस सम्बन्ध में राय देनी चाहिए। 3. उनके स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए उनके नेत्र, कान, गले आदि के रोगों के उपचार की व्यवस्था उनके अभिभावकों की सहायता से करनी चाहिए।

(iii) अनुगामी क्रियाएँ– हर बालक का स्वास्थ्य सम्बन्धी अभिलेख रखना चाहिए। उनके अभिभावकों के साथ पत्र-व्यवहार करते रहना चाहिए।

स्वास्थ्य वृद्धि

(क) परिशोधन व्यवस्था

(i) छात्रों के लिए– (अल्प तथा दीर्घावकाश, गृहकार्य, कमरे में छात्र संख्या, उचित समय-सारणी, कार्य में विधिवत् अनुशासन, दण्ड व्यवस्था, परीक्षाएँ, समुचित सहगामी क्रियाएँ, उचित कार्यभार और निर्बाध रूप में कार्य करने की सुविधा।)

(ख) शारीरिक क्रियाएँ

(i) खेल का मैदान– स्वच्छ, खुला हुआ, समय-समय पर निरीक्षण, उचित सामग्रियों एवं उपकरणों की व्यवस्था आदि।

(ii) क्रीड़ा कक्ष की व्यवस्था, उचित प्रकाश एवं हवा, उचित आकार एवं तापमान।

(iii) **शारीरिक शिक्षण कार्यक्रम–** कार्य तथा उसका स्वास्थ्य शिक्षा से सम्बन्ध।

(ग) स्वास्थ्य शिक्षा

(i) स्वास्थ्य शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित होना चाहिए।

(ii) योग्य व्यक्तियों के द्वारा प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए।

(iii) स्वास्थ्य प्रशिक्षण की विभिन्न पद्धतियों का उपयोग होना चाहिए।

(iv) स्वास्थ्य प्रशिक्षण के परिणामों से छात्रों को अवगत कराना चाहिए।

स्वास्थ्य सेवाओं का संगठन– स्वास्थ्य शिक्षा सम्बन्धी कार्यक्रमों का नियन्त्रण विद्यालय अधिकारियों के अधीन होना चाहिए। विद्यालय एवं छात्रों के परिवारों के बीच सम्बन्ध होना चाहिए ताकि परिवार की सहायता से बालकों का निरीक्षण भली भाँति किया जा सके। विद्यालय में स्वास्थ्य शिक्षा संचालन एवं परिचारिकाएँ होनी चाहिए।

स्वास्थ्य शिक्षा सम्बन्धी अन्य कार्यक्रमों में वातावरण में सुधार, वार्त्ताओं, वाद-विवादों, एवं भाषणों का आयोजन, छपी सामग्रियों की व्यवस्था, स्वास्थ्य प्रदर्शनियों का आयोजन, रेडियो कार्यक्रमों तथा चलचित्रों द्वारा स्वास्थ्य शिक्षा देने पर बल दिया जाना चाहिए।

❑